गोत्र परिचय के फलस्वरूप हजारों हजार वर्षों बाद भी मनुष्य अपने-अपने गोत्र के लोगों को अच्छी तरह पहचान लेते हैं।''

सराक जाति के गोत्रपिता ऋषभदेव थे, इसीलिए निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि इनके पूर्व पुरुष भगवान् ऋषभदेव के अत्यन्त ही निकटतम व्यक्ति थे, ऐसा भी हो सकता है कि उनके साथ उन लोगों का खून का रिश्ता भी रहा हो। इसीलिए, ऋषभदेव द्वारा प्रचलित अनुशासन उनके लिए सर्वथा पालन करने योग्य था।

सराक शब्द का साधारण अर्थ होता है श्रावक अर्थात् श्रमणकारी। पाश्चात्य पण्डितों ने ही सर्वप्रथम इस अर्थ को प्रचलित किया। यद्यपि पूरे विश्व में एवं हमारे देश में भी प्रागैतिहासिक युग से ही अधिकांश जातियों के नाम उस जाति के जातिगत पेशे और उसके आदिभूमि के आधार पर रखे गए हैं। इस दृष्टि से भी हम देख सकते हैं कि सराक, सराग, सराकी, सरापी तथा सरोगी आदि शब्द सर + आग या सर + आगी से आए हैं। सर शब्द का अर्थ होता है निःसृत होना एवं आगि अथवा आगी का अर्थ होता है अग्नि। अतएव सराग व सरांगी शब्दों का अर्थ है **अग्नि से निःसृत** अथवा जो अग्नि से कुछ निःसृत कराते हैं।

''नव पाषाण युग के अन्तिम समय तक मनुष्य यही जानता था कि अग्नि सब कुछ ध्वंस कर देती है। पर अचानक ही आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि ऋषभ पुत्रगणों ने अग्नि से ध्वंस हुए मलवों से कुछ महामूल्यवान पदार्थ निःसृत किये। इसीलिए, शायद इन्हें सराग कहा गया हो। सरागी अथवा अग्निपुत्र के रूप में यह जाति श्रेष्ठ सम्मान से विभूषित हुई।'' (पूर्वाचल में सराक संस्कृति और जैन धर्म—तित्थयर)

अग्नि प्रयोग के साथ साथ कृषि का ज्ञान भी ऋषभदेव ने दिया था। इस सन्दर्भ में कर्नल टॉड ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजस्थान का इतिहास में ऋषभदेव और नूह के साम्य के विषय में उल्लेख करते हुए लिखा है- "Arius montanus" नामक महाविद्वान् ने लिखा है नूह कृषि कर्म से प्रसन्न हुआ और कहते इस विषय में वह सबसे बढ़ गया। इसलिए उसी की भाषा में वह इश-आद-मठ अर्थात् भूमि के काम में लगा रहने वाला पुरुष कहलाया। इश-आद-मठ का अर्थ पृथ्वी का पहला स्वामी होता है। आगे टॉड साहब कहते हैं- ''उपर्युक्त पदवी, प्रकृति और निवास स्थान जैनियों के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के वृत्तांत के साथ ठीक बैठ सकते हैं जिन्होंने मनुष्यों को खेती बाड़ी का काम और अनाज गाहने के समय बैलों के मुँह को छीकी लगाना सिखाया।''

यह आश्चर्य का विषय है कि ऋषभदेव के विषय में इतने उल्लेख प्राप्त होने के बाद भी कुछ विद्वान् इस सत्यता को स्वीकारने से कतराते हैं इसका कारण या तो उनकी अज्ञानता है या धार्मिक विद्वेष। प्रो. विरुपाक्ष वार्डियर, एम. ए. वेदतीर्थ आदि विद्वानों ने ऋग्वेद में वर्णित ऋषभदेव को आदि तीर्थंकर ऋषभ ही स्वीकार किया है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा से प्राप्त सीलों से भी आज से ५००० वर्ष पहले भी ऋषभदेव की मान्यता के पुष्ट प्रमाण मिले हैं।

मोहन-जो-दड़ो से कुछ नग्न कायोत्सर्ग योगी मुद्राएँ मिली हैं, उनका संबन्ध जैन संस्कृति से है। इसे प्रमाणित करते हुए स्व. राय बहादुर प्रो. चन्द्रप्रसाद रमा ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है—

''सिंधु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियाँ न केवल योग मुद्रा में अवस्थित हैं वरन् उस प्राचीन युग में सिंधु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं। उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रकट करते हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से संबन्धित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदि पुराण सर्ग अठारह में ऋषभ अथवा वृषभ की तपस्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्त्व संग्रहालय में एक शिला फलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ मिलती हैं, जो ईसा की द्वितीय

शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या १२ में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य में कुछ ऐसी प्रतिमाएँ मिलती हैं जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियाँ या ग्रीक कुरों प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है जो सिंधुघाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती हैं। ऋषभ का अर्थ होता है वऋषभ और वृषभ जिन ऋषभ का चिह्न है।'' – मार्डन रिव्यु अगस्त १९३२ पृ. १५६-६०

प्रो. चंद्रा के इन विचारों का समर्थन प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार भी करते हैं। वे भी सिंधुघाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं, उन्होंने तो सील क्रमांक ४४९ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। (It may also be noted that incription on the Indus seal No.449 reads according to my decipherment ""Jinesh". (Indian Historical Quarterly.) Vol. VIII No.250.

इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि ''फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभ देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F.G.H. फलक पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो।''

-हिन्दू सभ्यता पृ. ३९- जैन धर्म और दर्शन

इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं –

''मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई हैं जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयीं। इस दृष्टि से जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।'' –संस्कृति के चार अध्याय पृ.६२

इसी संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. एम. एल. शर्मा लिखते हैं – मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज ने अपने लेख मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण में लिखा है- भगवान् ऋषभदेव का वर्णन वेदों में नाना सन्दर्भों में मिलता है। कई मन्त्रों में उनका नाम आया है। मोहन-जो-दड़ो (सिन्धुघाटी) में पाँच हजार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं। उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हजारों साल पुराना है। मिट्टी की जो सीलें वहाँ मिली हैं, उनमें ऋषभनाथ की नग्न योगिमूर्ति है, उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरा गया है। ''मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चिह्न अंकित है वह भगवान् ऋषभदेव का है। यह चिह्न इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। सिंधु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की पूजा करते थे।'' (भारत में संस्कृति और धर्म पृ.६२)

विद्वानों के अनुसार प्राचीनकाल से दो धारायें चल रही हैं। आर्हत् और बार्हत। पाणिनी ने भी दोनों का उल्लेख करते हुए दोनों में परम्परागत शाश्वत विरोध बताया है। तार्किक दृष्टि से देखें तो मूलधारा एक होती है जिससे बाद में शाखाएँ प्रशाखाएँ निकलती हैं। मुख्य धारा आर्हत् संस्कृति थी जो ऋषभदेव से प्रारम्भ हुई और उससे विशृँखल हुए लोगों ने अर्थात् जो उसका पालन नहीं कर सके उन्होंने अलग रास्ता अपनाकर विभिन्न धर्मों का प्रारम्भ किया। ऋषभदेव के पौत्र मरिची के शिष्य कपिल से सांख्य धर्म का प्रारम्भ हुआ और सांख्य धर्म ही बाद में वैदिक धर्म की आधारशिला बना। इसीलिये यदि हम किसी भी धर्म या संस्कृति के मूल स्रोत में जायें तो वहाँ हमें ऋषभ संस्कृति के ही दर्शन होगें। Hermann Jacobi का इस विषय में यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है- "The interest of Jainism to the student of

religion consists in the fact that it goes back to a very early period, and to primitive currents of religious and metaphysical speculation, which gave rise also to the oldest Indian Philosophies - Sankhya and Yoga - and to Buddhism."

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल भी इससे सहमत हैं उनके अनुसार- ''यह सुविदित है कि जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर थे-भगवान् महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर हो चुके थे उन्हीं में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे जिनके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद् भागवत् में भी विस्तार से आता है और यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि उसका क्या कारण रहा होगा? भागवत् में इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत, ऋषभ के शत् पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारत वर्ष कहलाया।'' —जैन साहित्य का इतिहास—प्रस्तावना पृ.८

भारतीय दर्शन के पृष्ठ ८८ में श्री बलदेव उपाध्याय लिखते हैं- ''जैन लोग अपने धर्मप्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में संशय नहीं किया जा सकता।''

1907 में हेनरी विलियम्स द्वारा सम्पादित "Historians History of the World" ग्रन्थावली के चौबीस खण्ड में एक शब्द भी जैन धर्म या आर्हत् संस्कृति के विषय में नहीं मिलता है यहाँ कि भारतीय इतिहास खण्ड में भी जैन धर्म का कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन ऋषभ तथा अन्य तीर्थंकरों का वर्णन वहां भी है। उसीमें इतिहासकार हेरेन ने मिस्र और फिनिशिया के इतिहास के विषय में लिखा है। "The Gods Anat and Reschuf seems to have reached the Phoenecians from North Syria at a very early period. So far indeed, it is only certain that they were worshipped by the Phoenecian colonists on Cyprus. Portraits of these deities are displayed on the monuments of the Egyptians" इस प्रकार के अनेकों संदर्भ तीर्थंकरों से संबन्धित हमें मिले हैं। सीरिया और बेबीलोन की प्राचीन सभ्यता में भी ऋषभ संस्कृति की झलक मिलती है। Thomas Maurice ने अपनी किताब The History of Hindustan, its Art, and its Science में लिखा है "The Original Sanskrit name of Babylonia is Bahubalaneeya; The realm of king Bahubali" यह सर्वविदित है कि बाहुबली ऋषभदेव के पुत्र थे। और उनकी मान्यता आज भी चली आ रही है।

इसी संदर्भ में वी. जी. नायर लिखते हैं- "There is authentic evidence to prove that it was the Phoenicians who spread the worship of Rishabha in Central Asia, Egypt and Greece. He was worshipped as 'Bull God' in the features of a nude Yogi. The ancestors of Egyptians originally belonged to India. The Phoenicians had extensive cultural and trade relation with India in the pre-historic days. In foreign countries, Rishabha was called in different names like Reshef, Apollo, Tesheb, Ball, and the Bull God of the Mediterranean people. The Phoenicians worshipped Rishabha regarded as Appollo by the Greeks. Reshef has been identified as Rishabha, the son of Nabhi and Marudevi, and Nabhi been identified with the Chaldean God Nabu and MaruDevi with Murri or Muru. Rishabhdeva of the Armenians was undoubtedly Rishabha, the First Thirthankara of the Jains. A city in Syria is known as Reshafa. In Soviet Armenia was a town called Teshabani. The Sabylonion city of Isbekzur seems to be a corrupt form of Rishabhapur.....A bronze image of Reshef (Rishabha) of the 12th century B.C. was discovered at Alasia near Enkomi in Cyprus. An ancient Greek image of Appollo resembled

Tirthankara Rishabha. The images of Rishabha were found at Malatia, Boghaz Koi and also in the monument of Isbukjur as the chief deity of the Hittite pantheon. Excavations in Soviet Armenia at Karmir-Blur near Erivan on the site of the ancient Urartian city of Teshabani have unearthed some images including one bronze statue of Rishabha" - Research In Religion

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव केवल भारतीय उपास्य देव ही नहीं भारत के बाहर भी उनका प्रभाव देखा जाता है। विश्व की प्राचीनतम संस्कृति श्रमण संस्कृति अर्हतोपासना में आस्थावान थी तथा यह उतनी ही प्राचीन है जितनी आत्मविद्या और आत्मविद्या; क्षत्रिय परम्परा रही है। पुराणों के अनुसार क्षत्रियों के पूर्वज ऋषभदेव हैं। ब्राह्मण पुराण २:१४ में पार्थिव श्रेष्ठ ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में भी लिखा है कि क्षात्र धर्म भगवान् आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ है शेष धर्म उसके बाद प्रचलित हुए हैं। प्राचीन भारत की युद्ध पद्धति नैतिक बन्धनों से जकड़ी हुई थी। प्राचीन युद्धों में उच्च चरित्र का प्रदर्शन होता था। इतनी उच्च श्रेणी का क्षत्रिय चरित्र का उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं दीखता; इसका एक मात्र कारण ऋषभ संस्कृति का प्रभाव है। आर्यों ने यह भारत की प्राचीन श्रमण परम्परा से ही सीखा है।

हिन्दू साहित्य में ब्रह्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा और स्वयंभू आदि जिनका साम्य ऋषभदेव के चरित्र से भी मिलता है।

इस प्रकार जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रथम योगी थे जिन्होंने ध्यान पद्धति का प्रारम्भ किया था। श्रीमद् भागवत में उन्हें योगेश्वर कहा गया है। महाभारत में हिरण्यगर्भ को सबसे प्राचीन योगवेत्ता माना गया है। जैन परम्परा के ऋषभदेव ही अन्य परम्पराओं में आदिनाथ, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा एवं शिव के नाम से प्रचलित हैं। ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ को भूत-जगत् का एकमात्र स्वामी माना गया है। सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी था। ऋषभदेव जब गर्भ में थे तब राज्य में धनधान्य की वृद्धि हुई इसीलिये उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। महापुराण में भी इस बात का उल्लेख मिलता है।

आगम और ऋग्वेद के व्युत्पत्ति जन्य अर्थ में अद्भुत साम्य देखने को मिलता है। जो इस प्रकार है। 'ऋ' का अर्थ है प्राप्त करना या सौंपना। 'क्' अक्षर का अर्थ है शिव, विष्णु, ब्रह्मा (सत्यम शिवम सुन्दरम) के रूप में भी मिलता है। और वेद का अर्थ है ज्ञान। अर्थात् ब्रह्मा, शिव (ऋषभदेव) से आया (प्राप्त) ज्ञान। आगम में - 'आ' का अर्थ है आया हुआ', 'अधिग्रहण'। 'ग' से गणधर। 'म' का प्रयोग ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के सम्मिलित रूप में होता है और ऋषभदेव से गणधरों को आया हुआ रहस्यमय ज्ञान या गणधरों द्वारा ग्रहण किया गया रहस्यमय ज्ञान। संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर (रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित नागरी प्रचारणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित) के पृष्ठ ८१ में आगम का अर्थ वेद, शास्त्र, तन्त्रशास्त्र और नीतिशास्त्र दिया हुआ है। इससे यह पता चलता है कि आगम साहित्य वैदिक साहित्य से भी विशाल था। ''तन्त्र अभिनव विनिश्चय'' (शैव आगमों का प्रमुख ग्रन्थ) में लिखा है कि तंत्र के आदि स्रष्टा शिव थे। जिन्होंने आगम के रूप में वह ज्ञान पार्वती को दिया और पार्वती ने लोक कल्याण के लिये वह ज्ञान गणधरों को निगम के रूप में दिया। यह धारणा इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि आदि एक है लेकिन विभिन्न लोगों ने अलग-अलग दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की है। ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदनत्यग्निम् यमः मातरिश्वानम् आहुः।'' अतः मूल ज्ञान का स्रोत आगम थे और उसी का परिवर्तित रूप निगम बना। पार्वती शब्द का अर्थ पर्वत में रहने वाले लोग से भी होता है। जिनको पारवतीय कहकर सम्बोधित किया गया है। इस रहस्यमय आगम ज्ञान को सिर्फ भारत में ही नहीं यूरोप में भी कैसे नष्ट किया गया इसका एक उदाहरण यहाँ पर दिया जा रहा है। Godfrey Higgins ने अपने ग्रन्थ "The Celtic Druids" में इस विषय में लिखा है- "After the introduction of Christianity

the Ogam writings not being understood by the priests, were believed to be magical and were destroyed wherever they were found. patrick is said to have burnt 300 books in those letters."

"The word Agams or Ogam is mysterious" according to Sri William Jones "These Ogham Character" were the first invented letters.....the Druids of Ireland did not pretend to be the inventors of the secret system of letters but said that they inherited them from the most remote antiquity."

प्रख्यात घुमक्कड़, परिव्राजक, प्राचीन तंत्रशास्त्र के ज्ञाता एवं शैवागम के विशेषज्ञ विद्वान् श्री प्रमोदकुमार चटर्जी का कहना है- ''तन्त्र धर्म भारत के बाहर से आया हुआ है। शिव तिब्बत के पार्वत्य अंचल में रहा करते थे। जिन लोगों ने तिब्बत के भौगोलिक मानचित्र को देखा है, वे देखेगें कि उस देश के दक्षिण पश्चिम अंश में कैलाश पर्वत श्रेणी विद्यमान है। लगभग चार हजार या उससे भी कई शताब्दियों पहले एक महापुरूष उस अंचल में विद्यमान थे।

तिब्बत के कैलाश अंचल में जिस महामानव ने आदि धर्म का प्रवर्तन किया था, वे अशेष गुणसम्पन्न योगी थे-योगेश्वर के रूप में ही उनकी प्रसिद्धि थी। ये कभी योगभ्रष्ट नहीं हुए। उनसे ही समाज का सविशेष विकास हुआ है।''

स्पष्टतः प्रमोद चटर्जी यहाँ ऋषभदेव, आदिनाथ या शिव की तरफ इशारा करते हैं।

ब्रह्मा द्वारा वेदों की उत्पत्ति की मान्यता श्रमण संस्कृति की इस मान्यता से और भी पुष्ट होती है कि मूल वेदों की रचना भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने पिता ऋषभदेव के उपदेशों को सूत्रबद्ध करके की गयी थी। बाद में वेद जब विच्छिन्न होने लगे तब उनमें भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिये हिंसक बलि, यज्ञ और शक्तिशाली देवताओं को प्रसन्न करने की स्तुतियाँ परवर्ती भाष्यकारों ने जोड़ दीं। निवृत्ति धर्म को गौण कर प्रवृत्ति धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा था। तत्पश्चात् व्यास जी ने इन ऋचाओं को संकलित कर उनके चार नाम से चार वेद बना दिये। प्राचीन काल में वेद जैन संस्कृति में भी मान्य रहे हैं। इसका प्रमाण आचारांग सूत्र से भी मिलता है। जहाँ कई स्थानों पर वेदवी शब्द का प्रयोग हुआ है जो गहन अनुसंधान का विषय है।

''एवं से अप्पमाएण विवेगं कीट्टति वेदवी''

- आचारांग सूत्र श्रुत १ अ. ४ उ. ४

''एत्थ विरमेज्ज वेदवी''

- आचारांग सूत्र श्रुत १ अ. ५ उ. ६

भगवान् महावीर द्वारा प्रथम समवसरण के समय गौतम आदि गणधरों के वैदिक श्रुतियों के विषय में संदेह का स्पष्टीकरण और उन श्रुतियों की सही व्याख्या करना इस मान्यता को और भी पुष्ट करता है कि प्राचीन काल में वेद जैनियों के मान्य ग्रन्थ थे। पारसी धर्मग्रन्थ अवेस्ता में प्राचीन वेदों का वर्णन मिलता है। विद, विश्वरद, विराद और अंगिरस। ये वेद खरोष्टि लिपि में लिपिबद्ध थे।

गोपथ ब्राह्मण (पूर्व २-२०) में स्वयंभू कश्यप का वर्णन मिलता है जो ऋषभदेव हैं। भागवत में और विष्णु पुराण में ऋषभदेव को विष्णु का अवतार बताया गया है। विष्णु शब्द में विष का अर्थ- प्रवेश करना तथा अश् का अर्थ- व्याप्त करना (धातु से) किया गया है। विष्णु पुराण में भी विष धातु का अर्थ प्रवेश करना है, सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा में व्याप्त है। ऋग्वेद में विष्णु को सौर देवता कहा है

और वे सूर्य के रूप हैं। आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियों द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य विष्णु नाम से अभिहित हुए हैं। ब्रह्म पुराण (१५८/२४) **"यश्च सूर्यः स वै विष्णुः स भास्करः"**। हमने प्रारम्भ में ही यह प्रमाणित किया है कि वेदों और पुराणों आदि ग्रन्थों में ऋषभदेव और सूर्य की समानता का उल्लेख मिलता है। जो विष्णु और सूर्य—ऋषभ और सूर्य दोनों की समानता की पुष्टि करता है। अर्हत् ऋषभदेव ने लोक और परलोक के आदर्श प्रस्तुत किये। गृहस्थधर्म और मुनिधर्म दोनों का स्वयं आचरण करते हुए राज्यावस्था में विश्व को सर्व कलाओं का प्रशिक्षण दिया तथा बाद में पुत्रों को राज्यभार सौंपकर अध्यात्मकला द्वारा स्व-पर कल्याण के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर अर्हत् बने। शायद यही कारण है कि श्रीमद्भागवत में उन्हें विष्णु भगवान् कहा है।

महर्षिःतस्मिन्नैव विष्णुदत्तः भगवान परमर्षिभिः प्रसादितः नाभेः
प्रिवचिकीर्षया तदवरोधाय ने मरुदेव्याधमान् दर्शयितुकामो
वातरशनानांः श्रमणः नामृषीणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनुवावतार।।

- ५।३।२० भागवत

अर्थात् - हे परीक्षित ! उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर भगवान् महाराज विष्णु नाभि को प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर में महारानी मरुदेवी के गर्भ से वातरशना (योगियों) श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्वमय शरीर से प्रकट हुए।

श्रीमद्भागवतकार ने ही लिखा है कि यद्यपि ऋषभदेव परमानन्दस्वरूप थे, स्वयं भगवान् थे फिर भी उन्होंने गृहस्थाश्रम में नियमित आचरण किया। उनका यह आचरण मोक्षसंहिता के विपरीतवत् लगता है, किन्तु वैसा था नहीं। यथा—

भगवान् ऋषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः
केवलानन्दानुभवः ईश्वर एवं विपरीतवत् कर्मारण्यारभ्यमानः
कालेनानुरातं धर्ममाचरेणापंशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशांतो मैत्रः
कारुणिको धर्मार्थ यशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोक नियमयत्।

- भागवत् ५।४।१४

अर्थात्— भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुरूप स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार धर्म का आचरण करके उसका सत्त्व न जानने वालों को उसी की शिक्षा दी। साथ ही सम (मैत्री), शान्त (माध्यस्थ), सहृद (प्रमोद), और कारुणिक (कृपापरत्व) रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तानरूप भोग सुख तथा मोक्ष सुख का अनुभव करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

ऋषभ का एक अर्थ धर्म भी है। ऋषभदेव साक्षात् धर्म ही थे। उन्होंने भागवत में कहा है- मेरा यह शरीर दुर्विभाव है, मेरे हृदय में सत्त्व का निवास है वहीं धर्म की स्थिति है। मैंने धर्म स्वरूप होकर अधर्म को पीछे धकेल दिया है अतएव मुझे आर्य लोग ऋषभ कहते हैं।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं, सत्त्वं ही में हृदयं यत्र धर्मः।
पुष्टे कृतो मे यदधर्म आराधतो ही मां ऋषभं प्राहुरार्याः।।

—भागवत ५।५।२२

एक अन्य स्थान पर परीक्षित ने कहा है— हे धर्मतत्त्व को जानने वाले ऋषभदेव ! आप धर्म का उपदेश कर रहें हैं। अवश्य ही आप वृषभरूप में स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं। यथा—

धर्मबृवीषी धर्मज्ञ धर्मोसि वृषभ रूप धृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत।।

—भागवत १।११।२२

भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया क्योंकि वे स्वयं धर्मरूप थे। तीर्थ का प्रवर्तन किया क्योंकि वे स्वयं तीर्थंकर थे, यह सब कुछ सत्य है किन्तु उन्होंने प्रजा को संसार में जीने का उपाय भी बताया। (मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म)।

''अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है, भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है। उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियों की चर्चा है। वे नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होंने ही नाट्यकला को ताण्डव दिया। वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही भरतपुत्रों को सिद्धि सिखाई। अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक डिम (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था। जैन ग्रन्थों में वर्णित अप्सरा नीलांजना का ऋषभदेव की राज्यसभा में नृत्य का प्रसंग उपरोक्त वर्णन से समानता दर्शाता है।''

''पुराणों में शिव का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण हो गया है। यहाँ वह दार्शनिकों के ब्रह्मा हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं। वह एक आदि पुरुष हैं, परम सत्य हैं तथा उपनिषदों एवं वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया। बुद्धिमान और मोक्षाभिलाषी इन्हीं का ध्यान करते हैं। वह सर्व हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं। वह एक स्वयंभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं। उन्हें महायोगी, तथा योगविद्या का प्रमुख माना जाता है। सौर तथा वायु पुराण में शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम 'माहेश्वर योग' है। इन्हें इस रूप में 'यंती', 'आत्म-संयमी ब्रह्मचारी' तथा 'ऊर्ध्वरिताः' भी कहा गया है। शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है। प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है।''

रामायण (बालकाण्ड ४६।६ उत्तराकाण्ड) में भी शिव की हर तथा वृषभध्वज इन दो नवीन उपाधियों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में शिव को परब्रह्म, असीम, अचिंत्य, विश्वस्रष्टा, महाभूतों का एकमात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है। एक स्थल पर उन्हें सांख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरुष नाम से। वह स्वयं महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता हैं। एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है अनेक स्थलों पर विष्णु के लिये प्रयुक्त की गई योगेश्वर की उपाधि इस तथ्य का द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्तमान महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था। (महाभारत : द्रोणपर्व वनपर्व)

विमलसूरि के 'पउमचरिउं' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक जिनेन्द्र रुद्राष्टक का उल्लेख हुआ है जिसमें भगवान् का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है और बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसार रूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गुण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दस धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं, तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं, सात भय रूपी उद्दाम डमरु को बजानेवाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा

भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प परिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मण्डित हैं तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।

''आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञानरूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं। जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग, द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है। जिन्होंने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है।''

''महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में एक स्थल पर भगवान् वृषभदेव के लिये रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। भगवान् का यह एक स्तवन है जिसे उनके केवलज्ञान होने के बाद इन्द्र ने प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने भगवान् के लिये कहा है कि वे शान्त हैं, शिव हैं, अहिंसक हैं, राजन्य वर्ग उनके चरणों की पूजा करता है। परोपकारी हैं, भय दूर करने वाले हैं, वामाविमुक्त हैं, मिथ्यादर्शन के विनाशक हैं, स्वयं बुद्ध रूप से सम्पन्न हैं, स्वयंभू हैं, सर्वज्ञ हैं, सुख तथा शान्तिकारी शंकर हैं, चन्द्रधर हैं, सूर्य हैं, रुद्र हैं, उग्र तपस्यों में अग्रगामी हैं, संसार के स्वामी हैं, तथा उसे उपशान्त करने वाले हैं, महादेव हैं..... प्रलयकाल के लिये उग्रकाल हैं, गणेश (गणधरों के स्वामी) हैं, गणपतियों (वृषभसेन आदि गणधरों) के जनक हैं, ब्रह्म हैं, ब्रह्मचारी हैं, वेदांगवादी हैं, कमलयोनि हैं, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदि वराह हैं, हिरण्य गर्भ हैं, परमानन्द चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य) से सुशोभित हैं। खजुराहो के इस संस्तवन से यह प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप में शिव के त्रिमूर्ति तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया। १००० ई० के शिलालेख नम्बर ५ में शिव का एकेश्वर रूप में तथा विष्णु बुद्ध और जिन का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य की पुष्टि करता है।''

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है। जैन मान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है। गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरुदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रखा गया। सिन्धुघाटी में प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक युक्तियाँ भी वृषभांकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक हैं। इस प्रकार वृषभ का योग शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को सम्पुष्ट करता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि ने सोमेश्वर के शिव मन्दिर में जाकर महादेव स्त्रोत की रचना कर शिव की रागद्वेष रहित निर्विकार वीतराग सर्वज्ञदेव के रूप में स्तुति की थी। ऋषभ शिव कैसे बने इस विषय पर ईशान संहिता में लिखा है -

माघ वदि त्रयोदश्यादि देवो महानिशि। शिवलिंग तयोभूतः कोटिसूर्य समप्रभः ।।

अर्थात्- माघ वदि त्रयोदशी की महानिशा को आदि देव ऋषभ करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान शिवलिंग के रूप में प्रकट हुए। शिवपुराण में भी लिखा है—

''इत्थं प्रभवः ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे। सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः।।''

- शिवपुराण ४।४९

मुझे शंकर का ऋषभ अवतार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा तथा उसका अवतार नवां होगा।

जैन तीर्थंकरो में केवल ऋषभदेव की मूर्तियों के शिर पर कुटिल केशों का रूप दिखाया जाता है और वही उनका विशेष लक्षण भी माना जाता है। इसीलिये ऋषभदेव को केशरिया नाथ भी कहा जाता है। शिव के शिर पर भी जटाजूट कंधों पर लटकते केश ऋषभ और शिव की समानता को दर्शाते हैं। अतः निःसन्देह रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिव नाम मात्र से ही भिन्न हैं वास्तव में भिन्न नहीं हैं। इसीलिये शिव पुराण में २८ योग अवतारों में ९ वाँ अवतार ऋषभदेव को स्वीकार किया गया है।

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घकाल तक शिवजी के जटा-जूट में भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई। यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभदेव को असर्वज्ञदशा में जिस स्वंसवित्तिरूपी ज्ञान-गंगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् यही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिए बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया।

जैन भौगोलिक मान्यता में गंगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती हैं। वहाँ से निकलकर वह कुछ दूर तक तो उपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड़कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गंगाकूट में एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के उपर से गंगा की धारा गिरती है। विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है :

''आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जढ-मुउढ-सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पढदि।।''

अर्थात गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाएँ हैं। प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके उपर गिरती है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गंगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है :

''सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामएलं।
जिणमभिसिक्षुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा।।''

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थिति कमल की कर्णिका के उपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट वाली जिनमूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिए ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है।

वैदिक परम्परा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। जैनपरम्परा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पत्र दिखलाया गया है। आचार्य वीरसेन ने एक गाथा में त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है। सिन्धु उपत्यका से प्रात्य मुद्राओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं, कुछ मूर्तियाँ वृषभचिह्न से अंकित हैं। मूर्तियों के ये दोनों रूप महान् योगी वृषभदेव से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त खण्डगिरि की जैन गुफाओं (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुशाणकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूलचिह्न का उल्लेख मिलता है। डॉ. रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखालाया है।

* ऋषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ :

ऋषभदेव ने सबसे पहले क्षात्रधर्म की शिक्षा दी। महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है कि-क्षात्रधर्म भगवान् आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ और शेष धर्म उसके पश्चात् प्रचालित हुए। यथा-

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्त;। पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्म्म।।

-महाभारत शांतिपर्व १६।६४।२०

बह्माण्ड पुराण (२।१४) में प्रार्थिवश्रेष्ठ ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है ।

प्रजाओं का रक्षण क्षात्रधर्म है, अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दो गुण प्रजापति ऋषभदेव में विद्यामान थे। उन्होंने स्वयं दोनों हाथों में शस्त्र धारण कर लोगों को शस्त्रविद्या सिखाई। शस्त्र शिक्षा पाने वालों को क्षत्रिय नाम भी प्रदान किया। क्षत्रिय का अन्तर्निहित भाव वही था। उन्होंने सिर्फ शास्त्र विद्या की शिक्षा ही नहीं दी अपितु सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण की स्थापना भी की थी।

ऋषभदेव का यह वचन अधिक महत्त्वपूर्ण है कि केवल शत्रुओं और दुष्टों से युद्ध करना ही क्षात्रधर्म नहीं है अपितु विषय, वासना, तृष्णा और मोह आदि को जीतना भी क्षात्रधर्म है। उन्होंने दोनों काम किये। शायद इसी कारण आज क्षत्रियों को अध्यात्म विद्या का पुरुस्कर्ता माना जाता है। जितना और जैसा युद्ध बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिये अनिवार्य है, उससे भी अधिक मोहादि अन्तर्शत्रुओं को जीतने के लिऐ अनिवार्य है। ऋषभदेव ने सारी पृथ्वी-समुद्रों पर राज्य किया, सारे विश्व को व्यवस्थित किया और फिर मोहादि शत्रुओं का विनाश करने में भी विलम्ब नहीं किया। आचार्य समन्तभद्र ने नीचे लिखे श्लोक में बड़ा ही भाव-भीना वर्णन किया है-

"विहाय यः सागर-वारि-वाससं वधूमिवेमां वसुधाँ वधूं सतीम।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रव्राज सहिष्णुरच्युतः।।"

- स्वयंभू स्तोत्र १।३

अर्थात्- समुद्र जल ही है किनारा जिसका (समुद्र पर्यन्त विस्तृत) ऐसी वसुधारूपी सती वधू को छोड़कर मोक्ष की इच्छा रखने वाले इक्ष्वाकुवंशीय आत्मवान् सहिष्णु और अच्युत प्रभु ने दीक्षा ले ली।

उन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं को अपनी समाधि तेज से भस्म कर दिया और केवलज्ञान प्राप्त कर अचिंत्य और तीनों लोकों की पूजा के स्थान स्वरूप अर्हत् पद प्राप्त किया। तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय का अर्थ केवल सांसारिक विजय ही नहीं है अपितु आध्यात्मिक विजय भी है।

वे चतुर्वर्णी (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और बाह्मण) व्यवस्था के सूत्रधार बने। चाणक्य की अर्थनीति में जिस चतुर्वर्ण व्यवस्था पर अधिकाधिक बल दिया गया है, वह ऋषभदेव से प्रारम्भ हो चुकी थी।

भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारम्भ में धरा और धरावासियों की आवश्यकताओं के समाधान के लिए ऋषभदेव ने जिस घोर परिश्रम का परिचय दिया वही परिश्रम आत्मविद्या के पुरस्कर्ता होने पर भी किया। वे श्रमण आर्हत् धारा के आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। भागवतकार ने उन्हें नाना योगचर्याओं का आचरण करने वाले कैवल्यपति की संज्ञा तो दी ही है। (भागवत ५।६।६४) तथा साथ ही उन्हें वातरशना (योगियों), श्रमणों, ऋषियों और ऊर्ध्वगामी (मोक्षगामी) मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता और श्रमण धर्म का प्रवर्तक माना है (भागवत ५।४।२०)

यहाँ श्रमण से अभिप्राय- **"श्राम्यति तपक्लेशं सहते इति श्रमणः"** अर्थात् जो तपश्चरण करें वे श्रमण हैं। श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक की टीका में लिखा है कि- **"श्राम्यन्तीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः।"**

(१।३) इसका अर्थ है जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह तपस्वी श्रमण है। भागवत ने वातरशना योगी, श्रमण, ऋषि को ऊर्ध्वगामी कहा है। ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव है किन्तु कर्मों का भार उसे बहुत ऊँचाई तक नहीं जाने देता। जब जीव कर्मबन्धन से नितांत मुक्त हो जाता है तब अपने स्वभावानुसार लोक के अन्त तक ऊर्ध्वगमन करता है। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कथन है कि–**तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्या लोकान्तात्** (१०।५) अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद तुरन्त ही मुक्तजीव लोक के अन्त तक ऊँचे जाता है। जैन शास्त्रों में जहाँ भी मोक्षतत्त्व का वर्णन आया है वहाँ पर मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी संदर्भ में वैदिक ऋषियों ने वातरशना श्रमण के लिए ही किया है। और ऋषभदेव को इसका प्रवर्तक कहा है। अतः ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे यह वैदिक साहित्य भी स्वीकार करता है।

यतीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के अनुसार जो नाथ सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ वह जैनियों के तीर्थंकर और उनके शिष्य सम्प्रदाय से हुआ। मीननाथ के गुरु थे आदिनाथ अर्थात् ऋषभनाथ।

''जैन मान्यतानुसार ज्योतिष, गणित, व्याकरण आदि के प्रथम ज्ञाता तीर्थंकर ऋषभदेव हैं। इस विषय में वैद्य प्रकाश चन्द्र पांड्या ने अपने लेख 'जैन ज्योतिष की प्राचीनत्वता' में लिखा है कि ''ऋग्वेद में ऋषभ का उल्लेख अनेक जगहों में आया है और उनको पूर्णतः ज्योतिषी बतलाया है''।

''प्रे होत्रे पूर्व्यव चोडग्नये भरता वृहत।
विपी ज्योतिषी विभ्रते न वेधसे।।५।।७।।''

–ऋग्वेद मं ३ अ० १ सूत्र १०

ऋग्वेद के उक्त मंडल के आगे पीछे के अन्य सूत्रों और प्रसंग को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की यह ऋचा ऋषभ या वृषभ के लिये रची गयी है। उन्होंने ७२ विद्याएँ सिखाईं उनमें ज्योतिषी विद्या भी एक विद्या थी। इसीलिये वैदिक ऋषि वृषभ की वंदना करते हुए ऋग्वेद में लिखते हैं —

''आ नो गोत्रा दर्द्धहि गो पते गाः समस्मभ्यं सु नयो यंतुवाजा
दिवक्षा अति वृषभ सत्य शुष्मोडस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदा ः।।२१।।''

–ऋग्वेद, मंडल ३ अ० २ सू० ३०

अर्थात् – हे पृथ्वी के पालक देव। हमें नय सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमय माघवन ! हमें सुबोधि प्रदान कर।

बौद्धों के धर्मकीर्ति द्वारा रचित प्रख्यात ग्रन्थ **'न्यायबिन्दु'** में जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभ और महावीर आदि को ज्योतिष-ज्ञान में पारगामी होने के कारण सर्वज्ञ लिखा है-

''यः सर्वज्ञ आप्तो वास ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टावान्।
तद्यथा ऋषभ वर्धमानादिरिति।।''

''इस प्रकार जैनेतर साहित्य के अनुसार आदि ज्योतिषी भगवान् वृषभ या ऋषभ सिद्ध हो जाते हैं। जैन-पुराणों और कथाओं के आधार पर तो वे पूर्णतः ज्योतिषज्ञ हैं। जिनसेनाचार्य के ''आदि पुराण'' के अनुसार जो हालांकि वेदों से बाद की रचना है, वृषभ या ऋषभ के पुत्र भरत को एक बार रात को सोलह स्वप्न आये थे और उन स्वप्नों का जब अर्थ भरत ठीक-ठाक लगाने में असमर्थ रहे, यद्यपि वे

स्वयं ज्योतिर्विद थे फिर भी वे अपनी बेचैनी को शान्त करने के लिए पिता के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे और उनसे उन स्वप्नों का अर्थ समझाने की प्रार्थना की। भगवान् ऋषभदेव ने उन स्वप्नों का जो स्पष्टीकरण किया और भविष्यवाणी की वह वास्तव में स्तब्ध कर देने वाली है और यह सोचने और विचारने को बाध्य कर देने वाली है कि हजारों वर्षों पहले ही स्वप्नों के आधार पर भविष्य-वाणी भारत में होने लग गई थी। उनका वह स्वप्न-भविष्य कितना सत्य था आश्चर्य होता है।'' (जैन ज्योतिष के प्राचीनतमत्व पर संक्षिप्त विवेचन)

जैन वाङ्मय में आयुर्वेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बारह अंगों में अन्तिम अंग दृष्टिवाद में प्राणवाय एक पूर्व माना गया है जो आज अनुपलब्ध है। स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में इसका उल्लेख मिलता है। इस प्राणवाय नामक पूर्व में अष्टांगायुर्वेद का वर्णन है। जैन मत से आयुर्वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पं. व्ही. पी. शास्त्री ने उग्रादित्याचार्य कृत ''कल्याणककारक'' के सम्पादकीय में लिखा है कि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में महर्षि ने प्राणावाय शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में प्रमाणिक इतिहास लिखा है । ग्रन्थ के आदि में श्री आदिनाथ स्वामी को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् प्राणावाय का अवतरण कैसे हुआ और उसकी स्पष्टतः जनसमाज तक परम्परा कैसे प्रचलित हुई इसका स्पष्ट रूप से वर्णन ग्रन्थ के प्रस्ताव अंश में किया गया है जो इस प्रकार है—

श्री ऋषभदेव के समवसरण में भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने पहुँचकर श्री भगवन्त की सविनय वन्दना की और भगवान् से निम्नलिखित प्रकार से पूछने लगे—

''ओ स्वामिन ! पहले भोग भूमि के समय मनुष्य कल्पवृक्षों से उत्पत्र अनेक प्रकार के भोगोपभोग सामग्रियों से सुख भोगते थे। यहाँ भी खूब सुख भोगकर तदनन्तर स्वर्ग पहुँचकर वहाँ भी सुख भोगते थे। वहाँ से फिर मनुष्य भव में आकर अपने-अपने पुण्यकर्मों के अनुसार अपने-अपने इष्ट स्थानों को प्राप्त करते थे। भगवन् ! अब भारतवर्ष को कर्मभूमि का रूप मिला है। जो चरम शरीरी हैं व जन्म लेने वाले हैं उनको तो अब भी अपमरण नहीं है। इनको दीर्घ आयुष्य प्राप्त है। परन्तु ऐसे भी बहुत से मनुष्य पैदा होते हैं जिनकी आयु नहीं रहती और उनको वात, पित्त, कफादि दोषों का उद्वेग होता रहता है। उनके द्वारा कभी शीत और कभी उष्ण व कालक्रम से मिथ्या आहार सेवन करने में आता है। जिससे अनेक प्रकार के रोगों से पीडित होते हैं। इसलिये उनके स्वास्थ रक्षा के लिये योग्य उपाय बतायें। इस प्रकार भरत के प्रार्थना करने पर आदिनाथ भगवान् ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा लक्षण, शरीर, शरीर के भेदों, दोषोत्पत्ति, चिकित्सा, काल भेद आदि सभी बातों का विस्तार से वर्णन किया।''

इस प्रकार दिव्यवाणी के रूप में प्रकट समस्त परमार्थ को साक्षात् गणधर ने प्राप्त किया। उसके बाद गणधर द्वारा निरूपित शास्त्र को निर्मल बुद्धि वाले मुनियों ने प्राप्त किया। इस प्रकार श्री ऋषभदेव के बाद यह शास्त्र तीर्थंकर महावीर तक चलता रहा।

दिव्यध्वनी प्रकटितं परमार्थजातं साक्षातया गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपते निरुपित वाक्यप्रपंचमष्टाधी निर्मलधियों मुनयोऽधिजग्मुः।।
एवंजिनातंर निबन्धनसिद्धमार्गादायातमापतमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायांभुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षाच्छुतश्रुतदलैः श्रुत केवलीभ्य।।

स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने प्राणावाय परम्परा का ज्ञान प्रतिपादित किया। फिर गणधरों प्रतिगणधरों, श्रुतकेवलियों, मुनियों ने सुनकर प्राप्त किया।

-जैन आयुर्वेद - एक परिचय - अर्हत वचन, वर्ष - १२, अंक -३

'व्रात्य' 'प्रजापति' 'परमेष्ठी' 'पिता' और 'पितामह' है। विश्व व्रात्य का अनुसरण करता है। श्रद्धा से जनता का हृदय अभिभूत हो जाता है। व्रात्य के अनुसार श्रद्धा, यज्ञ, लोक और गौरव अनुगमन करते हैं। व्रात्य राजा हुआ। उससे राज्यधर्म का श्रीगणेश हुआ। प्रजा, बन्धुभाव, अभ्युदय और प्रजातन्त्र सभी का उसी से उदय हुआ। व्रात्य ने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया।

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्ष भूत्वानुव्यवर्तयन्तः। एनं श्रद्धा गच्छति एनं यज्ञो गच्छति एनं लोको गच्छति। सोऽरज्यत् ततो राजन्योऽजायत, स विश्वः स बन्धूभयघमभ्युदतिष्ठित्।।

इन शब्दों द्वारा भगवान् ऋषभदेव का प्रारम्भिक परिचय दिया गया है। कृषि, मसि, असि, कर्मयोग का व्याख्यान व्रात्य ने दिया। अयोध्या पूर्व की राजधानी है और ऋषभदेव की जन्मभूमि। फिर ऋषभदेव के सन्यास, तप, विज्ञान और उपदेश सभी का यथाक्रम वर्णन है। व्रात्य ने तप से आत्म-साक्षात्कार किया। सुवर्णमय तेजस्वी आत्मा का लाभ प्राप्त कर व्रात्य महादेव बन गये। (य महादेवोऽभूत) व्रात्य पूर्व की ओर गये, पश्चिम की ओर गये, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं को ओर उन्मुख हुए। चारों और उनके ज्ञान, विज्ञान का अलोक फैला। विश्व श्रद्धा के साथ उनके सामने नत्मस्तक हो गया।

स्वयं ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव से प्रार्थना की गई है : **''आदित्य त्वमसि आदित्य सद् आसीत् अस्तभ्नादधां वृषभो अंतरिक्षं जमिते वरिमागम पृथिका आसीत विश्व भुवनानी सम्राट् विश्वेतानि वरुणस्य वचनानि''** ? ऋग्वेद ३०, अ. ३) ''अर्थात् हे ऋषभदेव ! सम्राट् ! संसार में जगतरक्षक व्रतों का प्रचार करो। तुम ही इस अखण्ड पृथ्वी के आदित्य सूर्य हो, तुम्हीं त्वचा और साररूप हो, तुम्हीं विश्वभूषण हो और तुम्हीं ने अपने दिव्यज्ञान से आकाश को नापा है।''

''इस मंत्र में वरुण वचन से व्रतों का संकेत किया गया है। वास्तव में व्रतों के उद्गाता भगवान् ऋषभदेव ही थे। इस तथ्य को वेद ने नहीं, मनु ने भी स्वीकार किया है। यद्यपि मनुस्मृति में उन्हें वैवस्वत, सत्यप्रियव्रत, अग्निप्रभनाभि और ईश्वाकु (ऋषभदेव) को छट्ठा मनु स्वीकार किया है और वेदकालीन दूसरी सूची में उन्हें वैवस्वत-वेन-घृष्णु बताया गया है। जैन आगमों में १४ मनुओं के स्थान पर सात कुलकरों का वर्णन प्राप्त होता है और उसमें सातवें कुलकर का नाम नाभि और ऋषभदेव बताया गया है। इस प्रकार वेदों के आधार पर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि व्रात्य सम्प्रदाय के मूल संस्थापक और भारतीय संस्कृति के प्रतिष्ठापक भगवान् ऋषभदेव थे। कहने का सारांश इतना है कि ऋषभदेव ने व्रात्य धर्म, त्याग धर्म और परहंस धर्म का प्रतिपादन किया, जिसका समानार्थी अविकल और अक्षुण्ण रूप जैन धर्म है। जैनधर्म और व्रात्यधर्म दोनों पर्यायवाची हैं।'' -इतिहास के अनावृत पृष्ठ आचार्य सुशील मुनिजी

विमलसूरि ने अपने पउमचरिउं में लिखा है कि मूलतः चार वंश प्रसिद्ध थे। जिनकी उत्पत्ति ऋषभदेव से हुई। ऋषभदेव ने बाल्यावस्था में इक्षुदंड कुतूहल से हाथ में लिया जिससे उनका इक्ष्वाकु वंश कहलाया। उनके पुत्र भरत से आदित्ययशा, सिंहयशा, बलभद्र, वसुबल, महाबल आदि अनेक राजा इक्ष्वाकु वंश में हुए। आदित्ययशा के नाम से आदित्य अर्थात् सूर्यवंशी कहलाये। ऋषभदेव के दूसरे पुत्र सोमप्रभ के नाम से सोमवंश या चंद्र वंश की उत्पत्ति हुई। ऋषभदेव के पौत्र नमी और विनमी के द्वारा विद्याधर वंश बना। ये विधाओं से सम्पन्न थे इसलिये इन्हें विद्याधर कहा गया। विद्याधर वंशों के राजा से बचने के लिये राजा भीम ने एक महान् द्वीप में लंका नगरी की स्थापना की और इस द्वीप को राक्षस द्वीप कहा गया और उसके राजा को महाराक्षस। इस वंश में मेघवाहन हुआ जिसके पुत्र का नाम राक्षस था जो इतना पराक्रमी था कि उसके पूरे वंश को ही राक्षस नाम प्राप्त हुआ। अहमिन्द्र नामक विद्याधर राजा ने भी कण्ठ नामक पुत्र को लंकापति कीर्तिधवल ने लवणसागर के द्वीप में बसाया। जहाँ वानरों की बहुतायत थी। अतः इस द्वीप में रहने वालों को वानर कहा जाने लगा और उनका वंश वानर वंश कहलाया। पउमचरिउं

में लिखा है कि जिस प्रकार खड्ग से खड्गधारी, घोड़े से घुड़सवार, हाथी से हस्तिपाल, इक्षु से इक्ष्वाकु, विद्या से विद्याधर वंश होता है उसी तरह वानरों के चिह्न से वानरों का वंश अभिव्यक्त होता है। चूँकि वानर के चिह्न से लोगों ने छत्र आदि अंकित किये थे इसलिए वे विद्याधर वानर कहलाए। इस प्रकार ऋषभदेव से इक्ष्वाकु वंश, सूर्य वंश, चन्द्रवंश और विद्याधर वंश जिसके अन्तर्गत राक्षस और वानर वंश की उत्पत्ति हुई।

ऋषभ का अर्थ 'श्रेष्ठ' होता है। 'ऋषि गती' धातु से ऋषभ का अर्थ गतिशील भी है। ऋषभदेव वस्तुतः प्रत्येक कुशल कर्म के विकास पथ पर गतिशील रहे, अग्रणी रहे, श्रेष्ठ रहे। ऋषभ शब्द गंभीर, स्पष्ट एवं मधुर नाद का वाचक भी है जो सप्तस्वरों में से एक है। ऋषभ का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ ज्ञाता दृष्टा भी है। 'ऋ' का अर्थ आया हुआ, 'ष' का अर्थ श्रेष्ठ तथा 'भ' का अर्थ है ग्रह या नक्षत्र। अतः ऋषभ का अर्थ हुआ श्रेष्ठ नक्षत्रों में आया हुआ। जैन पुराण के अनुसार ऋषभदेव के दायें जंघा में बैल का चिन्ह होने से उनका वृषभ नाम भी व्यवहारित हुआ।

''उत्तराध्ययन २५ श्लोक ६ में काश्यप को धर्म का आदि प्रवर्तक बताया गया है। भगवान् ऋषभ आदि काश्यप हैं उन्हें धर्म की अनेक धाराओं के आदि स्रोत के रूप में खोजा जा सकता है। यह विषय अभी तक अज्ञात रहा है। इस विषय में अनुसंधान आवश्यक है। (आचार्य महाप्रज्ञ जी)

भगवान् ऋषभदेव ने चैत्यकृष्णा अष्टमी के दिन चंद्र के उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के साथ योग होने पर अपराह्न काल में दीक्षा ग्रहण की थी। हेमचन्द्राचार्य ने इस विषय में लिखा है–

तदा चं चैत्रबहुलाष्टम्यां चन्द्रमसिश्रिते।
नक्षत्र मुत्तराषाढ़ा महो भागेऽथ पश्चिमे।।६५।।

ऋषभदेव की तक्षशिला यात्रा का वर्णन जैन साहित्य में मिलता है जिनदत्त सूरि रचित पंचानन्द पूजा, आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। तक्षशिला में ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि का राज्य था। वहाँ पर ऋषभदेव गये थे। इसका वर्णन पी. सी. दास गुप्ता ने अपने लेख "On Rishabha's visit To Taxila," में किया है। उनके अनुसार The legend Rishabhanan's journey to Taksasila to meet his son Bahubali is indeed incomparable in its glory and significance. In his studies in Jaina Art (Banaras, 1955) Umakant P. Shah has sumed up the story as follows :

"It is said that when Rishabh went to Taksasila, he reached after dusk; Bahubali (ruling at Takshshila) thought of going to pay his homage next morning and pay due respects along with his big retinue. But the Lord went away and from here, travelled through Bahali-Adambailla, Yonaka and preached to the people of Bahali, and to Yanakas and Pahlagas Then he went to Astapada and after several years came to Purimataka near Vinita, Where he obtained Kevalajnana." According to U.P. Shah the relevant verses show that Taksasilla was probably included in the Province of Bahali (Balkh-Bactria) in the age of Avasyaka Niryukti. As regards Risabha's visit it is told that next morning when Bahubali came to know of the Master's departure he "felt disappointed and satisfiled himself only by worshipping the spot where the Lord stood by installing an emblem-the dharmachakra– over it."

जैन धर्म एवं साहित्य में धर्मचक्र का विशेष महत्व हैं। तीर्थंकरों की स्तुति में शक्रेन्द्र ने जो विशेषण और गुण सूचक वाक्य प्रयुक्त किये हैं उनमें **धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं** — अर्थात् महावीरादि तीर्थंकर श्रेष्ठ धर्म को चारों ओर फैलाने में धर्मचक्र के प्रवर्त्तक धर्म-चक्रवर्ती होते हैं। उनमें पहले अतिशय में धर्मचक्र का नाम आता है, अर्थात् तीर्थंकर चलते हैं तो उनके आगे-आगे आकाश में देवता धर्मचक्र चलाते रहते हैं। अतः धर्मचक्र तीर्थकरों का महान अतिशय है। अभिधान-चिंतामणी शब्दकोष के प्रथम खण्ड के ६१ वें श्लोक में धर्मचक्र प्रवर्तन किये जाने का उल्लेख किया गया है। प्राचीन समवायांग सूत्र में दस अतिशयों का वर्णन है, उसमें आकाशगत धर्मचक्र भी एक है। भगवान् विहार करते हैं तब आकाश में देदीप्यमान धर्मचक्र चलता है। प्राचीन स्तोत्रों में इसका बड़ा महत्व बतलाया है। उसका ध्यान करने वाले साधक सर्वत्र अपराजित होते हैं—

"जस्सवर धम्मचक्कं दिणयरंबिव न भासुरच्छायं
नेएण पज्जलंतं गच्छइ पुरओ। जिणिंदस्स।।१९।।

ॐ नमो भगवओ महइ महावीर वर्द्धमान सामिस्स जस्सवर धम्मचक्कं जलंतं गच्छइ आयासं पायालं, लोयाणं भूयाणं जूए वा रणे का रायंगणे वावारणे थंभणे मोहेण थंरणे स्तवसताणं अपराजिओ भवामि स्वाहा।

धर्मचक्र का प्रवर्तन कब से चालु हुआ, इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थ काल में अपने पुत्र महाराजा बाहुबली के प्रदेश में तक्षशिला वन में आये, उसकी सूचना वनरक्षक ने बाहुबली को दी तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ और वे भगवान् को वंदन करने के लिये जोरों से तैयारी करने लगे। इस तैयारी में संध्या हो जाने से दूसरे दिन प्रातःकाल वे अपने नगर से निकलकर जहाँ रात्रि में भगवान् ऋषभदेव ध्यानस्थ ठहरे थे वहाँ पहुँचे। पर लाव लश्कर के साथ पहुँचने में देरी हो गयी और भगवान् ऋषभदेव तो अप्रतिबद्ध विहारी थे अतः प्रातः होते ही अन्यत्र विहार कर गए, फलतः बाहुबली उनके दर्शन नहीं कर सके । मन में बड़ा दुःख हुआ कि मुझे भगवान् के आगमन की सूचना मिलते ही आकर दर्शन कर लेना चाहिए था। अन्त में जहाँ भगवान् खड़े हुए थे वहाँ की जमीन पर भगवान् के पद चिन्ह बने हुए थे, उन्हीं का दर्शन वंदन करके संतोष करना पड़ा, पद्चिन्हों की रक्षा करने के लिए धर्मचक्र बनवाया गया, सुवर्ण और रत्नमयी हजार आरों वाला धर्मचक्र वहाँ स्थापित किया गया। बाहुबली ने धर्मचक्र और चरण-चिन्हों की पूजा की। इस तरह चरण चिन्हों की पूजा की परम्परा शुरू हुई और पहला धर्मचक्र ऋषभदेव के छद्मस्थ काल में बनवाकर प्रतिष्ठित किया गया।

अष्टोत्तरी तीर्थमाला (अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरी रचिता) प्राकृत भाषा की एक महत्वपूर्ण रचना है। १११ गाथाओं की इस रचना में जैन तीर्थों का वर्णन है। उनमें से ५१वीं गाथा में अष्टापद उज्जयन्त, गजाग्रपद के बाद धर्मचक्र तीर्थ का उल्लेख है। गाथा ५६ से ५८ वें तक में धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है।

तवाल सिलाए उसभो, वियाली आगम्म पडिम्म नुज्जणे।
जा बाहुबली पमाए, एईता विहरिनु भयवं।।५६।।

तोतेहियं सोकारइ जिण पय गणंमि रयणमय पीढ़।
तदुवरि जोयण माणं रयण विणिम्मिय दंडे।।५७।।

तस्सोवरि रयणमय, जोयण परिमण्डल पवर चक्कं।
तं धम्मचक्कतित्थ, भवजल तिहि पवर बोहियं।।४८।।

अंचलगच्छ पट्टावली के अनुसार इस प्राकृत तीर्थमाला के रचयिता महेन्द्र सूरि का जन्म संवत १२२८ दीक्षा १२३७ आचार्य पद १३०९ में हुआ था। वे आचार्य हेमचन्द्र के थोड़े समय बाद ही हुए। आचार्य हेमचन्द्र और महेन्द्रसूरि के लेखन का आधार आवश्यकचूर्णि था जिसमें धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का उपर्युक्त वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन पुरातत्त्व से भी धर्मचक्र की मान्यता का समर्थन होता है। प्राचीनतम मथुरा के आयागपट्ट आदि में धर्मचक्र उत्कीर्णित है । मध्यकाल में भी इसका अच्छा प्रचार रहा। अतः अनेक पाषाण एवं धातु की जैन मूर्तियों के आसन के बीच में धर्मचक्र खुदा मिलता है। अभिधान राजेन्द्र कोष के पृष्ठ २७१५ में धर्मचक्र संबन्धी ग्रन्थों के पाठ दिये हैं । उसके अनुसार प्राचीनतम आचारांग की चूर्णि में 'तक्षशिलायां धर्मचक्र' आदि पाठ है जिसमें धर्मचक्र की स्थापना का तीर्थ तक्षशिला था, सिद्ध होता है। तीर्थकल्प में भी ''तक्षशिलायां बाहुबली विनिर्मितम् धर्मचक्र'' पाठ है। आवश्यक चूर्णि में तीर्थंकर के लिये धम्मचक्कवट्टी लिखा है। अतः परम्परा निःसंदेह काफी प्राचीन सिद्ध होती है।

जैनेद्र सिद्धान्त कोष के भाग २ पृष्ठ ४७५ में दो श्लोक उद्धृत मिले उनमें हजार-हजार आरों वाले धर्मचक्र अलंकृत हो रहे थे। यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तक पर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत हो रहे थे। (अगरचन्द नाहटा- धर्मचक्र तीर्थ उत्पत्ति और महिमा—कुशल निर्देश)

ऋषभदेव का प्रथम पारणा अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। इसका स्पष्ट लेख आचार्य हेमचन्द्र सूरि द्वारा रचित त्रिषष्टिशलाका पुरुष में मिलता है।

आर्यानार्येषु मौनेन, विहरन् भगवान्पि।
संवत्सरं निराहारश्चिन्तयामासिवानिदम्।।२३८।।

प्रदीपा इव तैलेन, पादपा इव वारिणा।
आहारेणैव वर्तन्ते, शरीराणि शरीरिणाम्।।२३९।।

स्वामी मनसि कृत्यैवं, भिक्षार्थं चलितस्ततः।
पुरं गजपुरं प्राप, पुरमण्डलमण्डनम् ।।२४३।।

दृष्ट्वा स्वामिनमायान्तं, युवराजोऽपि तत्क्षणम्।
अधावत पादचारेण, पत्तीनप्यातिलंघयन् ।।२७७।।

गृहांगणजुषो भर्तुर्लुठित्वा पादपंकजे।
श्रेयांसोऽमार्जयत् केशैर्भ्रमरभ्रमकारिभिः।।२८०।।

ईदृशं क्व मया दृष्टं, लिंगमित्यभिचिन्तयन्।
विवेकशाखिनो बीजं, जातिस्मरणमाप सः।।२८३।।

ततोविज्ञातनिर्दोषभिक्षादानविधिः स तु।
गृह्यतां कल्पनीयोऽयं, रस इत्यवदत् विभुम्।।२९१।।

प्रभुरप्यंजलीकृत्य, परिपात्रधारयत्।
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य सोऽपीक्षुरसकुम्भानलोठयत्।।
राधशुक्ल तृतीयायां, दानमासीत्तदक्षयम्।
पर्वाक्षयतृतीयेति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते।।३०१।।

ऊपर लिखित श्लोकों में आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्टतः लिखा है कि संवत्सर पर्यन्त भगवान् ऋषभदेव मौन धारण किये हुए निराहार ही विभिन्न आर्य तथा अनार्य क्षेत्रों में विचरण करते रहे हैं। तदनन्तर उन्होंने विचार किया कि जिस प्रकार दीपकों का अस्तित्व तेल पर और वृक्षों का अस्तित्व पानी पर निर्भर करता है, उसी प्रकार देहधारियों के शरीर भी आहार पर ही निर्भर करते हैं। यह विचार कर वे पुनः भिक्षार्थ प्रस्थित हुए और विभिन्न स्थलों मे विचरण करते हुए अन्ततोगत्वा हस्तिनापुर पधारे। हस्तिनापुर में भी वे भिक्षार्थ घर-घर भ्रमण करने लगे। अपने नगर में प्रभु का आगमन सुनते ही पुरवासी अपने सभी कार्यों को छोड़ प्रभु दर्शन के लिये उमड़ पड़े। हर्षविभोर हस्तिनापुर निवासी प्रभु चरणों पर लोटपोट हो उन्हें अपने-अपने घर को पवित्र करने के लिये प्रार्थना करने लगे। भगवान् ऋषभदेव भिक्षार्थ जिस-जिस घर में प्रवेश करते, वहीं कोई गृहस्वामी उन्हें स्नान-मज्जन-विलेपन कर सिंहासन पर विराजमान होने की प्रार्थना करता, कोई उनके समक्ष रत्नाभरणालंकार प्रस्तुत करता, कोई गज, रथ, अश्व आदि प्रस्तुत कर, उन पर बैठने की अनुनय-विनयपूर्वक प्रार्थना करता। सभी गृहस्वामियों ने अपने-अपने घर की अनमोल से अनमोल महार्घ्य वस्तुएँ तो प्रभु के समक्ष प्रस्तुत की किन्तु आहार प्रदान करने की विधि से अनभिज्ञ उन लोगों में से किसी ने भी प्रभु के समक्ष विशुद्ध आहार प्रस्तुत नहीं किया। इस प्रकार अनुक्रमशः प्रत्येक घर से विशुद्ध आहार न मिलने के कारण प्रभु निराहार ही लौटते रहे और मौन धारण किये हुए शान्त, दान्त भगवान् ऋषभदेव एक के पश्चात् दूसरे घर में प्रवेश करते एवं पुनः लौटते हुए आगे की ओर बढ़ रहे थे। राजप्रासाद के पास सुविशाल जनसमूह का कोलाहल सुनकर हस्तिनापुराधीश ने दौवारिक से कारण ज्ञात करने को कहा। प्रभु का आगमन सुन महाराज सोमप्रभ और युवराज श्रेयांसकुमार हर्षविभोर हो त्वरित गति से तत्काल प्रभु के सम्मुख पहुँचे। आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमन और चरणों में लुण्ठन के पश्चात् हाथ जोड़े वे दोनों पिता-पुत्र आदिनाथ की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते ही रह गये। गहन अन्तस्थल में छुपी स्मृति से श्रेयांसकुमार को आभास हुआ कि उन्होंने प्रभु जैसा ही वेश पहले कभी कहीं न कहीं देखा है। उत्कट चिन्तन और कर्मों के क्षयोपशम से श्रेयांसकुमार को तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। जातिस्मरण-ज्ञान के प्रभाव से उन्हें प्रभु के वज्रनाभादि भवों के साथ अपने पूर्वभवों का और मुनि को निर्दोष आहार प्रदान करने की विधि का स्मरण हो गया। श्रेयांस ने तत्काल निर्दोष-विशुद्ध इक्षुरस का घड़ा उठाया और प्रभु से निवेदन किया, हे आदि प्रभो ! आदि तीर्थेश्वर ! जन्म-जन्म के आपके इस दास के हाथ से यह निर्दोष कल्पनीय इक्षुरस ग्रहण कर इसे कृतकृत्य कीजिये।

प्रभु ने करद्वयपुटकमयी अंजलि आगे की। श्रेयांस ने उत्कट श्रद्धा-भक्ति एवं भावनापूर्वक इक्षुरस प्रभु की अंजलि में उड़ेला। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने पारणा किया। देवों ने गगनमण्डल से पँच दिव्य की वृष्टि की। अहो दानम्, अहो दानम्! के निर्घोषों, जयघोषों और दिव्य दुन्दुभि-निनादों से गगन गूँज उठा। दशों दिशाओं में हर्ष की लहरें सी व्याप्त हो गईं। राध-शुक्ला अर्थात वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन युवराज श्रेयांस ने भगवान् ऋषभदेव को प्रथम पारणक में इक्षुरस का यह अक्षय दान दिया। इसी कारण वैशाख शुक्ल तृतीया का दिन अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ और वह अक्षय तृतीया का पर्व आज भी लोक में प्रचलित है।

अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत द्वारा रचित महापुराण की रिसहकेवणाणुत्पत्ती नामक नवम सन्धि पृ० १४८-१४९ में भी भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणे का उल्लेख मिलता है।

ता दुंदुहि खेण भरियं दिसावसाणं।
भणिया सुरवरेहिं भो साहु साहु दाणं।।१।।
पंचवण्णमाणिक्कमिसिट्ठी, घरप्रंगणि वसुहार वरिट्ठी।

णं दीसइ ससिरविबिंबच्छिहि, कंठभट्ठ कंठिय णहलच्छिहि।
मोहबद्धणवपेम्महिरी विव, सग्ग सरोवहु णालसिरी विव।
रयणसमुज्जलवरगयपंति व, दाणमहातरूहलसंपत्ति व।
सेयंसहु घणएण णिउंजिय, उक्कहिं उडमाला इव पंजिय।
पूरियसंवच्छर उव्वासें, अक्खवाणु मणिउं परमेसें।
तहु दिवसहु अत्येण अक्खवतइय णाउं संजायउ।
घरू जायवि भरहें अहिणंदिउ, पढ़मु दाणतित्थंकरू वंदिउ।
अहियं पक्ख तिण्ण सविसेसें, किंचूणे दिण कहिय जिणेसें,
भोयणवित्ती लहीय तमणासे, दाणतित्थु घोसिउ देवीसें।

महाकवि पुष्पदन्त ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ज्यों ही श्रेयांसकुमार ने अपने राजप्रासाद में भगवान् ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया त्यों ही दुन्दुभियों के घोष से दशों दिशाएँ पूरित हो गईं। देवों ने 'अहो दानम् अहो दानम्' एवं 'साधु-साधु' के निर्घोष पुनः पुनः किये। श्रेयांस के प्रासाद के प्रांगण में दिव्य वसुधारा की ऐसी प्रबल वृष्टि हुई कि चारों ओर रत्नों की विशाल राशि दृष्टिगोचर होने लगी। प्रभु का संवत्सर तप पूर्ण हुआ और कुछ दिन कम साढ़े तेरह मास के पश्चात् भोजन वृत्ति प्राप्त होने पर भगवान् ने प्रथम तप का पारणा किया। इस दान को अक्षयदान की संज्ञा दी गई। उसी दिन से प्रभु के पारणे के दिन का नाम अक्षय तृतीया प्रचलित हुआ। भरत चक्रवर्ती ने श्रेयांसकुमार के घर जाकर उनका अभिनन्दन एवं सम्मान करते हुए कहा, वत्स ! तुम इस अवसर्पिणीकाल के दानतीर्थ के प्रथम संस्थापक हो, अतः तुम्हें प्रणाम है।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि यह मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणा अक्षय तृतीय के दिन हुआ था। अक्षय तृतीय का पर्व प्रभु के प्रथम पारणे के समय श्रेयांसकुमार द्वारा दिये गये प्रथम अक्षय दान से सम्बन्धित है। वाचस्पत्यभिधान के श्लोक में भी अक्षय तृतीया को दान का उल्लेख मिलता है।

वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका।
अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता।।
तस्यां दानादिकं सर्वमक्षयं समुदाहृतम्।.....

प्रव्रज्या ग्रहण करने के १००० वर्ष तक विचरने के बाद ऋषभदेव पुरिमताल नगर के बाहर शकट मुख नामक उद्यान में आये और फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में प्रभु को एक वट वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञान द्वारा ज्ञान की पूर्ण ज्योति प्राप्त कर लेने के पश्चात् समवसरण में प्रभु ने प्रथम देशना दी। समवसरण का अर्थ अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार ''सम्यग् एकीभावेन अवसरणमेकत्र गमनं मेलापकः समवसरणम्'' अर्थात् अच्छी तरह से एक स्थान पर मिलना, साधु-साध्वी आदि संघ का एक संग मिलना एवं व्याख्यान सभा। समवसरण की रचना के विषय में जैन शास्त्रों में उल्लेख है कि वहाँ देवेन्द्र स्वयं आते हैं तथा तीन प्राकारों वाले समवसरण की रचना करते हैं जिसकी एक निश्चित विधि होती है।

माता मरूदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु व्याकुल हो रही थी। प्रव्रज्या के बाद अपने प्रिय पुत्र को एक बार भी नहीं देख पायी थी। भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने का शुभ संदेश जब सम्राट भरत ने सुना तो वे मरूदेवी को लेकर ऋषभदेव के पास जाते हैं। समवसरण में पहुँचकर माता मरूदेवी ने जब

ऋषभदेव को देखा तो सोचने लगी— मैं तो सोचती थी कि मेरा पुत्र कष्टों में होगा लेकिन वह तो अनिर्वचनीय आनन्दसागर में झूल रहा है। इस प्रकार विचार करते करते उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया वे आर्तध्यान से शुक्ल ध्यान में आरूढ़ हुईं और कुछ ही क्षणों में ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के बन्धन को दूर कर केवल ज्ञानी बन गयीं और गजारूड़ स्थिति में ही वे मुक्त हो गईं। इस सन्दर्भ में त्रिषष्टिशलाका पुरूष चरित्र में लिखा है-

करिस्कन्धाधिरूढ़ैव, स्वामिनि मरूदेव्यथ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रवेदे पदमव्ययम्।।

-त्रिषष्टि श. पु. चरित्रम् १।३।५३०

आवश्यक चूर्णिकार के अनुसार क्षत्र भायण्डादि अतिशय देखकर मरूदेवी को केवलज्ञान हुआ। आयु का अवसानकाल सन्निकट होने के कारण कुछ ही समय में शेष चार अघाती कर्मों को समूल नष्टकर गजारूढ़ स्थिति में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गई।

भगवतो य छत्तारिच्छतं पेच्छंतीए चेव केवलनाणं उप्पन्नं, तं समयं च णं
आयुं खुट्टं सिद्ध देवेहिं य से पूया कता.....।

-आवश्यक चूर्णि (जिनदास), पृ. १८१

इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरूदेवी का प्रथम स्थान है।

-आचार्य हस्तीमल जी महाराज-जैन धर्म का इतिहास

आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख है कि— भगवान् ऋषभदेव की फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन प्रथम देशना हुई।

फग्गुणबहुले इक्कारसीई अह अट्ठमेणभत्तेण।
उप्पन्नंमि अणंते महव्वया पंच पन्नवए।।

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा- ३४०

फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन शुद्ध एवं चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रि भोजन विमरण सहित पंचमहाव्रत धर्म का उपदेश दिया। तत्पश्चात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी धर्म तीर्थ की स्थापना कर भगवान् प्रथम तीर्थंकर बने। उनके उपदेशों को सुनकर भरत के ५०० पुत्र और ७०० पौत्र दीक्षा लेकर साधु बने और ब्राह्मी आदि ५०० स्त्रियाँ साध्वी बनीं। ऋषभसेन ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और १४ पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के ८४ गणधर हुए जिनमें ऋषभसेन पहले गणधर बने। कहीं-कहीं पुण्डरिक नाम का उल्लेख भी मिलता है परन्तु समवायांग सूत्र में ऋषभसेन नाम का उल्लेख है। आवश्यक चूर्णी में भी ऋषभसेन नाम का ही उल्लेख मिलता है।

तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्नो पुत्तो सो धम्म सोऊण पव्वइतो तेण तिहिं
पुच्छाहिं चोद्दसपुव्वाइं गहिताईं उप्पन्ने विगते धुते, तत्थ बम्भीवि पव्वइया। -आ. चूर्णि पृ. १८२

भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्म तीर्थ की शरण में आकर अनादिकाल से जन्म-मरण के चक्र में फँसे अनेकानेक भव्य प्राणियों ने आठों कर्मों को क्षय करके मुक्ति प्राप्त की। भगवान् ऋषभदेव ने एक ऐसी सुखद सुन्दर मानव संस्कृति का आरम्भ किया जो सह अस्तित्व, विश्व-बन्धुत्व और लोक कल्याण आदि गुणों से ओत-प्रोत और प्राणि मात्र के लिये सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में कल्याणकारी थी।

इसीलिये सभी धर्मों के प्राचीन ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव का प्रमुख स्थान है। वेदों, पुराणों, मनुस्मृति, बौद्ध ग्रन्थों आदि में ऋषभदेव का वर्णन और उनकी प्रशस्ति में श्लोक मिलते हैं। महाकवि सूरदास के शब्दों में-

बहुरि रिसभ बड़े जब भये नाभि राज देवनको गये।
रिसभ राज परजा सुख पायो जस ताको सब जग में छायो।।

-सूरसागर

ऋषभदेव की शिष्य संपदा के विषय में कल्पसूत्र में लिखा है कि **''उसभस्स णं अरहओ को सलियस्स चउरासीइं गणा, चउरासीइं गणहरा होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोस लियस्स उस भसेण- पामोक्खाओ चउरासीइं समण साहस्सीओ उक्कोसिया समण संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स बंभी-सुंदरी पामोक्खाणं अज्जियाणं तिन्नि सय साहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया होत्था''**

अर्हत ऋषभ के चौरासी गण और चौरासी गणधर थे। उनके संघ में चौरासी हजार श्रमण थे जिनमें वृषभसेन प्रमुख थे। तीन लाख श्रमणियाँ थीं जिनमें ब्राह्मी और सुन्दरी प्रमुख थीं।

इक्ष्वाकु कुल और काश्यप गोत्र में उत्पन्न ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। इन्हें सभ्यता और संस्कृति का आदि पुरुष कहा जाता है। त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र में इनके बारह पूर्वभवों का वर्णन भी है। वैदिक परम्परा में वेदों, पुराणों में भी ऋषभदेव का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। पुरातात्विक स्रोतों से भी ऋषभदेव के बारे में सूचनाएँ मिलती हैं। अब तक की सबसे प्राचीन प्राप्त मूर्ति जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में मिली है उसके विषय में–

T.N. Ramchandra (Joint director General of Indian Archaeology) ने स्पष्ट लिखा है— "We are perhaps recognising in Harappa statuette a fullfledged Jain Tirthankara in the Characteristic pose of physical abandon (Kayotsarga)"

"The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jain Rishabha "Therefore it is possible that the figures of the yogi with bull on the Indus seals represents the Mahayogi Rishabha," (Modern Review Aug. 1932).

"The images of Rishabha with Trishula-like decoration on the head in a developed artistic shape are also found at a later period. Thus the figures on the Mohanjodaro seals vouch safe the prevalence of the religion and worship of Jain Rsabha at the early period on the western coast of the county."

According to Jamboodwip Pragnapati, "Rishabhdeva was the first tribal leader to make invention of sword by smelting iron ore and to introduce alphabetic writing and its utilization for literary records. The age of Nabhi and his son Rishabha was the age of transition from the upper stage of Kulakarism into the dawn of civilization."

"The picture of the evolution of mankind through the infancy of the human race and kulakarism to the dawn of civilization as depicted in Jain Agamas, compares well with the picture of th evolution of mankind through savegery and barbarism to the begining of civilization as sketched by F Engels."

"The Harappa statuette is a male torso in nude form which resembles the torso found

in Lohanipur, Patna". Historian K. P. Jayaswal declared that "It is the oldest Jain image yet found in India... In the face of similarities the nude torso of Harappa seems to represent an image of a Jina probably of Jain Rishabha."

इसी सन्दर्भ मे प्रो० एस.आर. बेनर्जी ने लिखा है- "Jainism is a very old religion. There were 24 Tirthankars in Jainism. The first was known as Adinatha or Risabha deva and the 24th Tirhankara was Bhagavan Mahavira... If Lord Mahavira is attributed to the 6th century B.C. surely Rishabha deva, the 1st Tirthankar, must have belonged to a much earlier period. It is to be noted that the name Rishabha is found in the Rigveda, which dates back to 1500 B.C." (Understanding Jain Religion in a Historical Perspective. – Dr. Satya Ranjan Banerjee)

जैनधर्म में तीर्थंकर को धर्म तीर्थ का संस्थापक माना गया है। **'नमोत्थुणं' नामक प्राचीन प्राकृत स्तोत्र में तीर्थंकर को धर्म का प्रारम्भ करने वाला, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का प्रदाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता, धर्म मार्ग का सारथी और धर्म चक्रवर्ती कहा गया है। नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आइगरणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं... पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवर-गंधहत्थीणं। लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोग-पईवाणं, लोग-पज्जोयगराणं..... धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत चक्कवट्टीणं..... जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं....। (कल्पसूत्र)**

जैनधर्म में तीर्थंकर का कार्य है — स्वयं सत्य का साक्षात्कार करना और लोकमंगल के लिए उस सत्यमार्ग या सम्यक् मार्ग का प्रवर्तन करना है। वे धर्म-मार्ग के उपदेष्टा और धर्म-मार्ग पर चलने वालों के मार्गदर्शक हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है स्वयं को संसारचक्र से मुक्त करना, आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करना और दूसरे प्राणियों को भी इस मुक्ति और आध्यात्मिक पूर्णता के लिये प्रेरित करना और उनकी साधना में सहयोग प्रदान करना। तीर्थंकरों को संसार समुद्र से पार होने वाला और दूसरों को पार कराने वाला कहा गया है। वे पुरुषोत्तम हैं, उन्हें सिंह के समान शूरवीर, पुण्डरीक कमल के समान वरेण्य और गन्धहस्ती के समान श्रेष्ठ माना गया है। वे लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक के हितकर्ता, दीपक के समान लोक को प्रकाशित करने वाले कहे गये हैं।

तीर्थङ्कर शब्द का प्रयोग आचारांग, उत्तराध्ययन, समवायांग, स्थानांग एवं भगवती आदि में मिलता है। संस्कृति में तीर्थ शब्द का अर्थ घाट या नदी है। अतः जो किनारे लगाये वह तीर्थ है। सागर रूपी संसार से पार लगाने के लिये धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं। बौद्ध ग्रन्थ दिघ्निकाय में छः तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। (१) पूर्ण काश्यप, (२) मंक्खलि गोशाल, (३) अजित केश कम्बल, (४) प्रबुद्ध कात्यायन, (५) संजयबेलटिट्ठपुत्र, (६) निगण्ठनातपुत्र। विशेषावश्यक भाष्य में तीर्थ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि जिसके द्वारा पार हुआ जाता हैं उसको तीर्थ कहते हैं। यहाँ तीर्थ के चार भाग बताये हैं। तीर्थ नाम से संबोधित किये जाने वाले स्थान **'नाम तीर्थ'** कहलाते हैं। जिन स्थानों पर भव्य आत्माओं का जन्म, मुक्ति आदि होती है और उनकी स्मृति में मन्दिर, प्रतिमा आदि स्थापित किये जाते हैं वे **'स्थापना तीर्थ'** कहलाते हैं। जल में डूबते हुए व्यक्ति को पार कराने वाले, मनुष्य की पिपासा को शान्त करने वाले और मनुष्य शरीर के मल को दूर करने वाले **'द्रव्य तीर्थ'** कहलाते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य के क्रोध आदि मानसिक विकार दूर होते हैं तथा व्यक्ति भवसागर से पार होता है, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन **'भावतीर्थ'** कहा जाता है।

तीर्थ हर धर्म का केन्द्र स्थल तथा श्रद्धा स्थल हैं। तीर्थ वह स्थान है जहाँ किसी महापुरुष द्वारा साधना

की गयी हो या मुक्ति प्राप्त की गयी हो। वह स्थान उस विलक्षण व्यक्तित्व की चेतना की उर्जा से उक्त हो जाता है तथा वहाँ की चेतना की सघनता स्वमेव उस स्थान को तीर्थ का रूप प्रदान कर देती है। जहाँ लोग आकर दर्शन करते हैं साधना करते हैं क्योंकि वहाँ के वातावरण में तीर्थंकरों और महापुरूषों के चैतन्य के परमाणु व्याप्त होते हैं। उनकी चेतना की ज्योति का घनत्व आत्म साधक की साधना की क्षमता को शीघ्र ही बढ़ा देता है। महोपाध्याय चन्द्रप्रभजी के शब्दों में 'तीर्थ में प्रवहमान चैतन्य धारा स्वतः में प्रवहमान होने लगती है। तीर्थ हमारी निष्ठा एवं श्रद्धा के सर्वोपरि माध्यम हैं। तीर्थ ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम अतीत के आध्यात्म में झाँक सकते हैं। तीर्थ सदा से हमारे सांस्कृतिक जीवन की धुरी रहे हैं। सारी की सारी नैतिक रक्त नाड़ियाँ यहीं से होकर गुजरती हैं और हमें संस्कृति तथा धर्म के तल पर नया जीवन नयी उमंग प्रदान करती हैं। यही से हम उत्साह की मंद पड़ती लौ के लिये नयी ज्योति पाते हैं। संक्षेप में तीर्थ हमारे आत्म कला के सर्वोत्कृष्ट साधन हैं'' (महोपाध्याय श्रीचन्द्रप्रभ सागरजी) प्राचीन शास्त्रों से यह पता चलता है कि तीर्थंकर की अवधारणा का विकास अरिहंत की अवधारणा से हुआ है। उत्तराध्ययन में सबसे पहले हमें तित्थयर शब्द मिलता है। तीर्थंकर के लिये बुद्ध शब्द का प्रयोग जैन आगमों में तथा बौद्ध पिटकों में बुद्धों का तीर्थंकर के रूप में प्रयोग मिलता है।

तीर्थ स्थानों में व्यक्ति सब चिन्ताओं से मुक्त हो भावविभोर हो भक्ति में लीन हो जाता है। जितने समय तक वहाँ रहता है एक विशेष सुख शान्ति का अनुभव करता है। तीर्थों की गरिमा मन्दिरों से अधिक है। जैन धर्म में २४ तीर्थंकरों की मान्यता है। महाभारत और पुराणों में तीर्थ यात्रा के महत्त्व को बतलाते हुए यज्ञों की तुलना मे श्रेष्ठ बताया गया है। बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध के जन्म, ज्ञान, धर्मचक्र प्रवर्तन और निर्वाण इन चार स्थानों को पवित्र मानकर यहाँ यात्रा करने का निर्देश मिलता है। चीनी यात्री फाह्यान ह्वुनसांग, इत्सिन आदि बौद्ध तीर्थों की यात्रा हेतु भारत आये थे। तीर्थंकरों, मुनियों, ऋषियों की चैतन्य विद्युत धारा से प्रवाहित तीर्थों में चेतना की ज्योति अखण्ड रहती है।

जैन शास्त्रों में तीर्थंकरों के निर्वाण स्थल, जन्म स्थल, तथा अन्य कल्याण भूमियों को तीर्थ के रूप में मान्यता दी गयी है तथा उन स्थानों पर बनाये गये चैत्यों, स्तूपों तथा वहाँ पर जाकर महोत्सव मनाने का वर्णन आगम साहित्य में उपलब्ध मिलता है। आचारांग निर्युक्ति, निशीथ चूर्णी, व्यवहार चूर्णी, महनिशीथ, श्री पंचाशक प्रकरणम्, हरिभद्रसुरि सारावली प्रकीर्णक, सकल तीर्थ स्तोत्र, अष्टोत्तरी तीर्थमाला, प्रबन्धग्रन्थों तथा जिनप्रभसूरि रचित विविध तीर्थकल्प आदि ग्रन्थों में तीर्थों, तीर्थ यात्री संघों द्वारा तीर्थों की यात्रा का उल्लेख मिलता है तथा उनकी महत्ता का भी वर्णन मिलता है।

तीर्थंकरों द्वारा स्थापित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का चतुर्विध संघ (तिथ्यं पुण चाउवन्ने समणसंघे, समणा, समणीओ, सावया, साावियाओ —भगवती सूत्र शतक २० /उ० ८ /सूत्र ७४) भी संसार रूपी समुद्र से पार कराने वाला भाव तीर्थ कहा जाता है। इस प्रकार के चतुर्विध संघ के निर्माण का वर्णन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर से हमें मिलता है। जैन परम्परा में तीर्थ शब्द के अर्थ का ऐतिहासिक विकासक्रम देखने को मिलता है। यहाँ तीर्थ शब्द को अध्यात्मिक अर्थ प्रदान कर अध्यात्मिक साधना मार्ग को तथा उस साधना के अनुपालन करने वाले साधकों के संघ को तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। धार्मिक क्रियाओं में चतुर्विध श्री संघ की मान्यता तथा चतुर्विध श्री संघ द्वारा तीर्थयात्रा को एक धार्मिक क्रिया के रूप में मान्यता दी गयी है।

ऋग्वेद में तीर्थों का वर्णन नहीं है क्योंकि प्रारम्भ में वैदिक लोग मन्दिर और मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे। लेकिन श्रमण संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप उपनिषदों, पुराणों, महाभारत आदि में तीर्थ यात्राओं

की उच्चकोटि की महत्ता मानी गयी और इनका वर्णन किया गया। इन तीर्थ यात्राओं की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं। (१) ये यात्राएँ किसी विशेष पूजा पद्धति के अनुयायी सम्मिलित होकर करते थे। (२) इनकी यात्रा का लक्ष्य कोई प्रमुख तीर्थ स्थान रहता था। (३) इस यात्रा में संतों और मुनियों के समागम को प्रत्येक धर्म में महत्ता दी गयी। (४) इन संघों के यात्री मार्ग में धर्म प्रभावना का कार्य निरन्तर करते थे। दान और पुण्य का बड़ा महत्त्व समझा जाता था। (५) यात्रा के मार्ग में पड़ने वाले जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों की व्यवस्था की जाती थी। निर्धन वर्ग को सहायता प्रदान करना एवं मार्ग में विशेष सुविधाओं की स्थापना करना अति पुण्य का कार्य समझा जाता था। (६) इस प्रकार की यात्राओं का व्यय एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति सम्मिलित होकर उठाते थे। (७) मार्ग में पड़ने वाले राज्यों के शासक भी संघों के यात्रियों की व्यवस्था करते थे तथा यात्री संघों द्वारा शासकों को भेट दी जाती थी। जिसके बदले ये शासक विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ यात्रियों को उपलब्ध कराते थे। संतों का प्रयास रहता था कि शासक को धार्मिक सिद्धान्तों की ओर प्रेरित करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थ और तीर्थ यात्रा संघों का महत्त्व धार्मिक तीर्थों की देखभाल और पुनरुद्धार के लिये, विभिन्न जातियों भाषा-भाषियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये, मानव जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों के प्रसार के लिये, देश के विभिन्न भागों की जानकारी एवं नजदीकी सम्बन्ध स्थापित करने के लिये, राजकीय संरक्षण के लिये तथा शासकों में धर्म प्रचार के लिये आवश्यक बना रहा।

तीर्थङ्करों का जन्म स्वयं के कल्याण के लिये ही नहीं अपितु जगत् के कल्याण के लिये होता है। अतः उनके जीवन के विशिष्ट मंगल दिनों को कल्याणक दिन कहा जाता है। जैन परंपरा में तीर्थङ्करों के पंच कल्याणक रूप माने जाते है — **पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं हवंति नियमेण।—** (पंचाशक-हरिभद्र ४२४), **जस्स कम्ममुदएण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थ दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरणाम।**

- धवला १३।५, १०१।३६६।६, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, टीका ३८१।६

ये पंचकल्याणक दिन निम्नलिखित हैं—

गर्भकल्याणक- तीर्थङ्कर जब भी माता के गर्भ में अवतरित होते हैं तब श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार माता १४ और दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६ स्वप्न देखती है तथा देवता और मनुष्य मिलकर उनके गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं।

जन्मकल्याणक — जैन मान्यतानुसार जब तीर्थङ्कर का जन्म होता है, तब स्वर्ग के देव और इन्द्र पृथ्वी पर आकर तीर्थङ्कर का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाते हैं और मेरू पर्वत पर ले जाकर वह उनका जन्माभिषेक करते हैं।

दीक्षाकल्याणक — तीर्थङ्कर के दीक्षाकाल के उपस्थित होने के पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या लेने की प्रार्थना करते हैं। वे एक वर्ष तक करोडों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। दीक्षा तिथि के दिन देवेन्द्र अपने देवमण्डल के साथ आकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाते हैं। वे विशेष पालकी में आरूढ़ होकर वनखण्ड की ओर जाते हैं। जहाँ अपने वस्त्राभूषण का त्यागकर तथा पंचमुष्ठि लोच कर दीक्षित हो जाते हैं। नियम यह है कि तीर्थङ्कर स्वयं ही दीक्षित होता है किसी गुरू के समीप नहीं।

कैवल्यकल्याणक — तीर्थङ्कर जब अपनी साधना द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करते हैं उस समय भी स्वर्ग से इन्द्र और देवमण्डल आकर कैवल्य महोत्सव मनाते हैं। उस समय देवता तीर्थङ्कर की धर्म सभा के लिये समवसरण की रचना करते हैं।

निर्वाणकल्याणक - तीर्थङ्कर के परिनिर्वाण प्राप्त होने पर देव द्वारा उनका दाह संस्कार कर परिनिर्वाणोत्सव

मनाया जाता है।

आरम्भिक जैन आगम साहित्य में सिद्धान्तों पर महत्त्व दिया गया है तीर्थों पर कम। यहाँ सबसे पूर्व कल्याणकों को तीर्थ के रूप में बताया गया है। गर्भ (च्यवन) जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण। जिसमें निर्वाण स्थल का महत्त्व ज्यादा है जैन साहित्य में पाँच तीर्थों की महिमा का विशेष वर्णन मिलता है- **''आबू, अष्टापद, गिरनार, सम्मेतशिखर, शत्रुञ्जय सार। ये पाँचे उत्तम ठाम, सिद्धि गया तेने करूँ प्रणाम।''**

निर्वाण स्थलों के विषय में रविसेन ने पद्मपुराण में लिखा है कि "Many are the great souls who conquered their passions and attain release in times long passed; though these great souls have now vanished from our sight, we can still see the places that they Sanctified by their glorious acts."

आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाण भक्ति में लिखा है-

"Just as cakes become sweet when they are coated with sugar frosting so do places in this world become holy and pure when a Saint abides in them" (Pujyapada-निर्वाण भक्ति)।

जब मनुष्यों का तीर्थों में आवागमन अवरुद्ध हो जाता है राजनैतिक या भौगोलिक कारणों से तो अपने पहुँच के क्षेत्र में ही उस तीर्थ की यादगार प्रतीक बनाकर पूजा करते हैं। अष्टापद जो प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की निर्वाण भूमि है उसके विषय में भी ऐसा ही हुआ है। लेकिन आज जो साहित्यिक स्रोत हमारे पास हैं उनसे हमें अष्टापद की जानकारी मिलती है जिसके आधार पर अष्टापद की अवस्थिति का पता चल सकता है।

आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर हुआ था जिसका विवरण कल्पसूत्र में हमें मिलता है- **''चउरासीइं पुव्वसय सहस्साइं सिव्वाउयं पालइत्ता खीणे वेयणिज्जाउज-णाम-गोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए सुसम-दुस्समाए समाए बहु बिइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्ध नवमेहिं य मासेहिं सेसेहिं जे से हेमंताणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे, माह बहुले, तस्स णं माह बहुलस्स तेरसी पक्खेणं उप्पिं अट्ठावय सेल-सिहरंसि दसहिंअणगार-सहर-सेहिं सिद्धिं चोद्दसमेण भत्तेण अपाणएणं अभिइणा नक्खत्तेणं जोगभुवा गएणं पुव्वण्ह-काल-समयंसि संपलियंक-निसन्ने कालगए विइक्कंते जाव सव्व-दुक्ख-पहीणे।।१९९।।**

चौरासी लाख पूर्व वर्ष की आयु पूरी होने पर उनके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों का क्षय हो गया। उस समय वर्तमान अवसर्पिणी के सुषम-दुषम नामक तीसरे आरे के बीत जाने में तीन वर्ष साढ़े आठ महीने बाकी बचे थे। हेमन्त ऋतु का तीसरा महीना और पाँचवां पक्ष चल रहा था। माघ कृष्ण तेरस के दिन अष्टापद पर्वत के शिखर पर दोपहर से पूर्व ऋषभदेव १० हजार श्रमणों के साथ जलरहित चतुर्दश भक्त (छह उपवास) तप का पालन करते हुए पर्यंकासन में ध्यानमग्न बैठे थे। तब अभिजित नक्षत्र का योग आने पर वे कालधर्म को प्राप्त हुए। समस्त दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो गये।

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त्त के समस्त देशों में विहार किया, भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे। वहाँ पहुँचकर योगनिरोध दिया और शेष कर्मों का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की।

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) में जिस दिन शिवगति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिवगति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि रात्रि शिवरात्रि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उत्तर प्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है। उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचांगों में मौलिक भेद इसका मूल कारण है। उत्तरप्रान्त में मास का प्रारम्भ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से। प्राचीन मान्यता भी यही है। जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है। ईशान संहिता में लिखा है-

माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः।

प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघ कृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान् आदिदेव (वृषभनाथ) शिवरात्रि प्राप्त हो जाने से शिव इस लिंग (चिह्न) से प्रकट हुए-अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले आदिदेव कहे जाते थे, वे अब शिव पद प्राप्त हो जाने से शिव कहलाने लगे।

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष में ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध में दोनों ही एक मत हैं। जब उत्तर भारत में फाल्गुन कृष्णपक्ष प्रारम्भ होगा तब दक्षिण भारत का वह माघ कृष्ण-पक्ष कहा जायेगा। जैनपुराणों के प्रणेता प्राय दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अतः उनके द्वारा उल्लिखित माघ कृष्ण चतुर्दशी उत्तर भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा-चतुर्दशी ही हो जाती है। कालमाघवीय नागर खण्ड में प्रस्तुत माघवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है—

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता।

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्ण चतुर्दशी शिवरात्रि कही गई है। (ऋषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ)

इस प्रकार वैदिक साहित्य में माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन आदिदेव का शिव लिंग के रूप में उद्भव होना माना गया है और भगवान् आदिनाथ के शिव पद प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है। अतः यह सम्भव है कि भगवान् ऋषभदेव की निषद्या (चिता स्थल) पर जो स्तूप का निर्माण किया गया वही आगे चलकर स्तूपाकार चिह्न शिवलिंग के रूप में लोक में प्रचलित हो गया है।

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण होते ही सौधर्मेन्द्र शक्र आदि ६४ इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे सब इन्द्र अपने-अपने विशाल देव परिवार और अद्भुत दिव्य ऋद्धि के साथ अष्टापद शिखर पर आए। देवराज शक्र की आज्ञा से देवों ने तीन चिताओं और तीन शिविकाओं का निर्माण किया। शक्र ने क्षीरोदक से प्रभु के पार्थिव शरीर को और दूसरे देवों ने गणधरों तथा प्रभु के शेष अन्तेवासियों के शरीरों को क्षीरोदक से स्नान करवाया। उन पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया गया। शक्र ने प्रभु के और देवों ने गणधरों तथा साधुओं के पार्थिव शरीरों को क्रमशः तीन अतीव सुन्दर शिविकाओं में रखा। जय जय नन्दा, जय जय भद्दा आदि जयघोषों और दिव्य देव वाद्यों की तुमुल ध्वनि के साथ इन्द्रों ने प्रभु की शिविका को, और देवों ने गणधरों तथा साधुओं की दोनों पृथक्-पृथक् शिविकाओं को उठाया। तीनों चिताओं के पास आकर एक चिता पर शक्र ने प्रभु के पार्थिव शरीर को रखा। देवों ने गणधरों के पार्थिव शरीर उनके अन्तिम संस्कार के लिए निर्मित दूसरी चिता पर और साधुओं के शरीर तीसरी चिता पर रखे। शक्र की आज्ञा से अग्निकुमारों ने क्रमशः तीनों चिताओं में

अग्नि की विकुर्वणा की और वायुकुमार देवों ने अग्नि को प्रज्वलित किया। उस समय अग्निकुमारों और वायुकुमारों के नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और शोक से बोझिल बने हुए थे। गोशीर्ष चन्दन की काष्ठ से चुनी हुई उन चिताओं में देवों द्वारा कालागरू आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्य ड़ाले गये। प्रभु के और उनके अन्तेवासियों के पार्थिव शरीरों का अग्नि-संस्कार हो जाने पर शक्र की आज्ञा से मेघकुमार देवों ने क्षीरोदक से उन तीनों चिताओं को ठण्डा किया। सभी देवेन्द्रों ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रभु की दाढ़ों और दाँतों को तथा शेष देवों ने प्रभु की अस्थियों को ग्रहण किया।

तदुपरान्त देवराज शक्र ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों को सम्बोधित करते हुए कहा-देवानुप्रियो ! शीघ्रता से सर्वरत्नमय विशाल आलयों (स्थान) वाले तीन चैत्य-स्तूपों का निर्माण करो। उनमें से एक तो तीर्थङ्कर प्रभु ऋषभदेव की चिता के स्थान पर हो। उन चार प्रकार के देवों ने क्रमशः प्रभु की चिता पर, गणधरों की चिता पर और अणगारों की चिता पर तीन चैत्य स्तूपों का निर्माण किया।

आवश्यक निर्युक्ति में उन देवनिर्मित और आवश्यक मलय में भरत निर्मित चैत्यस्तूपों के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :

मडयं मयस्स देहो, तं मरूदेवीए पढम सिद्धो त्ति।
देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो य।।६०।।

सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य।
सद्दो य रूण्णसद्दो, लोगो वि ततो तहाय कतो।।६१।।

तथाभगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तुपा कृता, ततो

आवश्यक मलय में लिखित है-

लोकेऽपि तत आरभ्य मृतक दाह स्थानेषु स्तुपा प्रवर्तन्ते।।

— आवश्यक मलय

आचारांग निर्युक्ति के अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है— आवश्यक सूत्र जैनागम के अन्तर्गत चार मूल सूत्रों में द्वितीय है। जीवन की वह क्रिया जिसके अभाव में मानव आगे नहीं बढ़ सकता वह आवश्यक कहलाती है। आवश्यक सूत्र की सबसे प्राचीन व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति है जिसमें भगवान् ऋषभदेव के चरित्र का वर्णन मिलता है जिसके अन्तर्गत उनका अष्टापद पर विहार करने, निर्वाण प्राप्त करने तथा भरत द्वारा चैत्यों का निर्माण करने का विवरण है...

तित्थयराण पढमो असभरिसी विहरिओ निरूवसग्गो ।
अट्ठावओ जगवरो, अग्ग (य) भूमि जिणवरस्स।।३३८।।

अह भगवं भवहमणो, पुव्वाणमणूणगं सयसहस्सं ।
अणुपुव्वीं विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं सेलं।।४३३।।

अट्ठावयंमि सेले, चउदस भत्तेण सो महरिसीणां ।
दसहि सहस्सेहिं समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ।।४३४।।

निव्वाणं चिइगागिई, जिणास्स इक्खाग सेसयाणं च ।
सकहा थूभरजिणहरे जायग तेणाहि अग्गित्ति ।।४३५।।

तब संसार-दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुँचे और छः उपवास के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरों और अन्तेवासी साधुओं की तीन चिताओं पर पृथक-पृथक तीन चैत्यस्तूपों का निर्माण करने के पश्चात् सभी देवेन्द्र अपने देव-देवी परिवार के साथ नन्दीश्वर द्वीप में गये। वहाँ उन्होंने भगवान् ऋषभदेव का अष्टाह्निक निर्वाण महोत्सव मनाया और अपने-अपने स्थान को लौट गये।

ऋषभदेव के निर्वाण स्थान अष्टापद का विवरण हमें आचारांग निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति के अध्ययन १० में, निशीथ चूर्णि, विविध तीर्थ कल्प, आचार्य धर्मघोष सूरि रचित ज्ञानप्रकाश दीप, शीलांक की कृति चउपन्न महापुरिस चरियं (९वीं शताब्दी), आदि पुराण और उत्तर पुराण, त्रिषष्टिशलाका पुरूष चरियं (हेमचन्द्राचार्य), पंचमहातीर्थ, शत्रुञ्जय महात्म्य (धनेश्वरसूरि कृत) वसुदेव हिण्डी, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, तिलोयपण्णत्ति, पंच महातीर्थ, अष्टापद तप, गौतम रास, गौतम अष्टकम्, रविषेण के पद्म चरित, विमलसूरि के पउमचरिउं, पूज्यपाद के निर्वाण भक्ति, पोटाला पेलेस (दलाईलामा का निवास स्थान) के प्राचीन ग्रन्थों में, लामचीदास गोलालारे का विवरण 'मेरी कैलास यात्रा' में सहजानन्दजी के स्तवन आदि में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

आचारांग निर्युक्ति में लिखा है कि-

अट्ठावय मुज्जिंते गयग्गपद धम्मचक्के ।
पासरहा वत्तनगं चमरूप्पायं च वंदामि ।।

तिलोयपण्णति की गाथा ११८६ में लिखा है ऋषभदेव माघ कृष्णा चतुर्दशी पूर्वाह्न में अपने जन्म नक्षत्र (उत्तराषाढ़ा) के रहते कैलाश पर्वत से १०,००० मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हुए। हरिवंश पुराण (जिनसेन) और महापुराण (पुष्पदंत) में वर्णित है कि जब ऋषभदेव की आयु के चौदह दिन शेष रह गये तब वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक पूर्व भाग १५८।१ पृष्ठ में उल्लेख है कि भरत ने ऋषभदेव भगवान् की चिता भूमि पर अष्टापद पर्वत की चोटी पर स्तूप का निर्माण कराया। **''चेइअ थूभे करेह''**

अष्टापद गिरि कल्प में ऋषभदेव के अष्टापद पर निर्वाण का विस्तृत रूप से उल्लेख करके अष्टापद की महिमा के विषय में बताया गया है। (see pg. no. 76)

श्री जिनप्रभ सूरि ने अपनी कृति **विविध तीर्थ कल्प** (रचना- सन् १२३२ ई०) में संग्रहीत अपने **अष्टापद गिरि कल्प** में अष्टापद का ही अपर नाम कैलाश बताया है पर साथ ही पौराणिक साहित्य के आधार से उसकी स्थिति आयोध्या नगरी से उत्तर दिशा में १२ योजन (१५० कि० मी०) की दूरी पर बताई है जिसकी धवल शिखर पंक्तियाँ आज भी आकाश निर्मल होने पर **अयोध्या के निकटवर्ती उड्डयकूट** से दिखाई पड़ती हैं। इसके निकट ही मानसरोवर है जो परिपार्श्व में संचरण करते जलचर, **मत्त मोर** आदि पक्षियों के कोलाहल से युक्त है तथा **इसकी उपत्यका में साकेतवासी** लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं।

श्री धनेश्वरसूरि कृति शत्रुञ्जय महात्मय में भी अष्टापद का विवरण मिलता है। (see pg no. 65)

इस सारे अष्टापद (कैलास) प्रकरण में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य जो सामने आया है वह लौह निर्मित यन्त्रमय मानव की बात । आज जो यन्त्रमय मानव रोबोट बन रहे हैं उसका वर्णन १२वीं शताब्दी में हेमचन्द्राचार्य ने

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में कैलाश के सन्दर्भ में किया है । ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत ने अष्टापद पर मनुष्य लोग वहाँ आवागमन करके आशातना न करें इसलिये लोहयंत्रमय आरक्षक पुरुष बनवाये।

आज हम अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानते हैं, वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगतिशील समझते हैं । पर आज से हजारों वर्षों पहले का विज्ञान कितना विकसित था यह हमें साहित्य में वर्णित उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है । वनस्पति में जीव की अवधारणा, अणु और पुद्गल का स्वरूप और यन्त्रमय मानव का जैन साहित्य में वर्णन एक बहुत ही प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है । आज से पचास-पचपन वर्ष पूर्व इस विवरण को काल्पनिक और अतिशयोक्ति से भरा समझा जाता था । लेकिन आज यन्त्रमय मानव रोबोट के निर्माण ने उस यथार्थ को जिसे कल्पना समझते थे उसकी वास्तविकता को प्रमाणित कर दिया है । सूर्य रश्मियों को पकड़कर गौतम स्वामी का कैलास शिखर के आरोहण का अर्थ भी अगर देखें तो यह स्पष्ट होता है कि कैलास के लौह यन्त्रमय मानव सूर्य की किरणों से उर्जा प्राप्त कर अपना निर्धारित कार्य करते थे जिसको आज की भाषा में सोलर एनर्जी कहते हैं ।

श्री दीपविजयजी कृत अष्टापद पूजा के अन्तर्गत जलपूजा में अष्टापद की अवस्थिति के विषय में लिखा है –

जंबूना दक्षिण दरवाजेथी, वैताढ्य थी मध्यम भागे रे ।
नयरी अयोध्या भरतजी जाणो, कहे गणधर महाभाग रे ।धन. ।।८।।
जंबूना उत्तर दरवाजेथी, वैताढ्य थी मध्यम भागे रे ।
अयोध्या ऐरावतनी जाणो, कहे गणधर महाभाग रे ।। धन. ।।९।।
बार योजन छे लांबी पहोली, नव योजन ने प्रमाण रे ।
नयरी अयोध्या नजीक अष्टापद, बत्रीस कोस ऊँचाण रे ।। धन. ।।१०।।

जैन धर्म में सर्वोच्च स्थान तीर्थंकरों का है जिनकी प्रतिमाओं की परम्परा जैन आगमों के अनुसार शाश्वत है । आदि भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के बाद वहाँ स्तूप तथा सिंह निषधा पर्वत पर भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये गये जिनालय में दो, चार, आठ, दस के क्रम से कुल चौबीस प्रतिमाओं की स्थापना की गयी जिसका वर्णन सिद्धाणं, बुद्धाणं (सिद्धस्तव) सूत्र में मिलता है ।

चत्तारि अट्ठ दस दोय, वंदिया जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।५।।

इस प्रकार दक्षिण दिशा में चार, पश्चिम दिशा में आठ, उत्तर दिशा में दस और पूर्व दिशा में दो सब मिलाकर चौबीस जिन मूर्तियाँ हैं ।

गौतम स्वामी की अष्टापद तीर्थयात्रा के सन्दर्भ में महोपाध्याय श्री विनय सागरजी ने गौतम रास परिशीलन की भूमिका में लिखा है- गौतम स्वामी कि अष्टापद तीर्थयात्रा का सबसे प्राचीन प्रमाण सर्वमान्य आप्तव्याख्याकार जैनागम साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् याकिनीमहत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि 'भव विरह' के उपदेश नामक ग्रन्थ की गाथा १४१ की स्वोपज्ञ टीका में वज्रस्वामी चरित्र के अन्तर्गत गौतम स्वामी कथानक में मिलता है । इसमें गौतम स्वामी के चरित्र की मुख्य घटनाओं में गागली प्रतिबोध, अष्टापद तीर्थ की यात्रा, चक्रवर्ती भरत कारित जिनचैत्य बिम्बों की स्तवना, वज्र स्वामी के जीव को प्रतिबोध और उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति, अष्टापद पर १५०० तापसों को प्रतिबोध, महावीर का निर्वाण और गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति एवं निर्वाण का वर्णन है ।

गौतम स्वामी चरित्र के अन्तर्गत अष्टापद का उल्लेख (सं. ९२५) अभयदेवसूरि के भगवती सूत्र की टीका (सं. ११२८) देवभद्राचार्य के महावीर चरियं (सं. ११३९) हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में मिलता है ।

महोपाध्याय विनयप्रभ रचित गौतम रास में वर्णन है –

जउ अष्टापद सेल, वंदइ चढी चउवीस जिण,
आतम-लब्धिवसेण, चरम सरीरी सो य मुणि ।
इय देसणा निसुणेह, गोयम गणहर संचरिय,
तापस पनर-सएण, तउ मुणि दीठउ आवतु ए ।।२५।।

गणधर गौतम की जिज्ञासा थी कि-मैं चरम शरीरी हूँ या नहीं अर्थात् इसी मानव शरीर से, इसी भव में मैं निर्वाण पद प्राप्त करूँगा या नहीं ?

महावीर ने उत्तर दिया-आत्मलब्धि-स्ववीर्यबल से अष्टापद पर्वत पर जाकर भरत चक्रवर्ती निर्मित चैत्य में विराजमान चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना जो मुनि करता है, वह चरम शरीरी है । प्रभु की उक्त देशना सुनकर गौतम स्वामी अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने के लिये चल पड़े ।

उस समय अष्टापद पर्वत पर आरोहण करने हेतु पहली, दूसरी और तीसरी सीढ़ियों पर क्रमशः पाँच सौ-पाँच सौ और पाँच सौ करके कुल पन्द्रह सौ तपस्वीगण अपनी-अपनी तपस्या के बल पर चढ़े हुए थे । उन्होंने गौतम स्वामी को आते देखा । ।।२५।।

तप सोसिय निय अंग, अम्हां सगति ने उपजइ ए,
किम चढसइ दिढकाय, गज जिम दीसइ गाजतउ ए ।
गिरुअउ इणे अभिमान, तापस जो मन चिंतवइ ए,
तउ मुनि चढियउ वेग, आलंबवि दिनकर किरण ए ।।२६।।

गौतम स्वामी को अष्टापद पर्वत पर चढ़ने के लिए प्रयत्नशील देखकर वे तापस मन में विचार करने लगे—यह अत्यन्त बलवान मानव जो मदमस्त हस्ति के समान झूमता हुआ आ रहा है, यह पर्वत पर कैसे चढ़ सकेगा? असम्भव है, लगता है कि उसका अपने बल पर सीमा से अधिक अभिमान है । अरे ! हमने तो उग्रतर तपस्या करते हुए स्वयं के शरीरों को शोषित कर, अस्थि-पंजर मात्र बना रखा है, तथापि हम लोग तपस्या के बल पर क्रमशः एक, दो, तीन सीढ़ियों तक ही चढ़ पाये, आगे नहीं बढ़ पाये । तापसगण सोचते ही रहे और उनके देखते ही देखते गौतम स्वामी सूर्य की किरणों के समान आत्मिक बलवीर्य का आलम्बन लेकर तत्क्षण ही आठों सीढ़ियाँ पार कर तीर्थ पर पहुँच गये ।।२६।।

कंचन मणि निष्फन्न, दण्ड-कलस ध्वज वड सहिय,
पेखवि परमाणंद, जिणहर भरहेसर महिय ।
निय निय काय प्रमाण, चिहु दिसि संठिय जिणह बिम्ब,
पणमवि मन उल्लास, गोयम गणहर तिहां वसिय ।।२७।।

अष्टापद पर्वत पर चक्रवर्ती भरत महाराज द्वारा महित पूजित जिन-मन्दिर मणिरत्नों से निर्मित था, दण्ड-कलश युक्त था, विशाल ध्वजा से शोभायमान था । मन्दिर के भीतर प्रत्येक तीर्थंकर की देहमान के अनुसार २४ जिनेन्द्रों की रत्न मूर्तियाँ चारों दिशाओं में ४, ८, १०, २ विराजमान थीं । मन्दिरस्थ जिन मूर्तियों के दर्शन

कर गौतम स्वामी का हृदय उल्लास से सराबोर हो गया, हृदय परम आनन्द से खिल उठा । भक्ति-पूर्वक स्तवना की । सायंकाल हो जाने के कारण मन्दिर के बाहर शिला पर ही ध्यानावस्था में रात्रि व्यतीत की ।।२७।।

— गौतमरास परिशीलन — महोपाध्याय विनयसागरजी पेज ११८-१२०

श्री गौतमाष्टकम् में भी अष्टापद का विवरण इस प्रकार है —

अष्टापदाद्रौ गगने स्वशक्त्या, ययौ जिनानां पदवन्दनाय ।
निशम्य तीर्थातिशयं सुरेभ्यः, स गौतमो यच्छतु वाच्छितं मे ।।५।।

जैन शास्त्रों में अष्टापद तप का वर्णन मिलता है...

आश्विनेऽष्टाह्निकास्वेव यथाशक्ति तपःक्रमैः ।
विधेयमष्ट वर्षाणि तप अष्टापदं परम् ।।

अष्टापद पर्वत पर चढ़ने का तप अष्टापद पावड़ी तप कहलाता है । इसमें आसो सुद आठम से पूर्णिमा तक के आठ दिन को एक अष्टान्हिका (ओली) कहते हैं । उन दिनों में यथाशक्ति उपवासादि तप करना । पहली ओली में तीर्थंकर के पास स्वर्णमय एक सीढ़ी बनवाकर रखना । तथा उसकी अष्टप्रकारी पूजा करना । इस तरह आठ वर्ष तक आठ सीढ़ियाँ स्थापित कर तप करना ।

उद्यापन में बड़ी स्नात्र विधि से चौबीस-चौबीस पकवान, फल आदि रखना । इस तप को करने से दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति होती है । यह श्रावक को करने का अगाढ़ तप है ।

इसमें **श्री अष्टापदतीर्थाय नमः** पद की बीस माला गिनना । स्वस्तिक आदि आठ-आठ करना ।

दूसरी विधि : कार्तिक वदी अमावस्या से शुरू कर एकान्तरे आठ उपवास करना । पारणे के दिन एकासना करना । इस प्रकार आठ वर्ष करना ।

उद्यापन में अष्टापद पूजा, घृतमय गिरि की रचना, स्वर्णमय आठ-आठ सीढ़ी वाली आठ निसरणी बनवाना । पकवान, तथा सर्व जाति के फल चौबीस-चौबीस रखना । दूसरी सब वस्तुएँ आठ-आठ रखना । (जैन प्रबोध में इस तप को अष्टापद ओली भी कहा है) — तप रत्नाकर — पृष्ठ. २१६

अष्टापद का विवरण रविषेण के पद्मपुराण (तीर्थ वन्दन संग्रह पृष्ठ-९) में भी मिलता है ।

गुर्जर फागु काव्य के पृष्ठ २१२ में कवि समरकृत अष्टापद फागु का परिचय प्रकाशित है जो ६४ गाथाओं की रचना है । पाटण के हेमचन्द्राचार्य ज्ञानभण्डार में इसकी हस्तलिखित अप्रकाशित प्रत मौजूद है।

श्री धर्मघोष सूरि द्वारा रचित अष्टापद महातीर्थ कल्प में अष्टापद पर्वत के महात्मय का वर्णन किया गया है - (देखिए पृ. ७०)

आचार्य जिनसेन ने अपने पुराण में अष्टापद को कैलाश के रूप में उल्लेख किया है । उन्होंने कैलाश में भगवान् ऋषभदेव के समवसरण का वर्णन किया है जहाँ सम्राट भरत उनके दर्शन को जा रहे हैं इसका वर्णन इस प्रकार है —

अनुगंगातटं देशान् विलंघय ससरिद्गिरीन् । कैलासशैलसान्निध्यं-क्रिणो बलम् ।।११।।
कैलासाचलमभ्यर्णमथालोक्य रथांगभृत् । निवेश्य निकटे सैन्यं प्रययौ जिनमर्चितुम् ।।१२।।

चक्रवर्ती की वह सेना गंगा नदी के किनारे-किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतों को उल्लंघन करती हुई क्रम से कैलाश पर्वत के समीप जा पहुँची ।।११। । तदनन्तर चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत को समीप ही देखकर

सेनाओं को वहीं पास में ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने के लिये प्रस्थान किया ।।१२।।

अहो परममाश्चर्य तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयातं मुनिन्द्राणामज्ञातभयसंपदाम् ।।५५।। सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो मृगैरन्वर्थनामभिः। पुनरष्टापदख्यात्तिं पुरैति त्वदुपक्रमम् ।।५६। स्फुरन्मणितटोपातिं तारकाचक्रमापतत् । न याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तद्रोचिस्छन्नण्डलम् ।।५७।।

अहा, बड़ा आश्चर्य है कि पशुओं के समूह भी, जिन्हें वन के भय और शोभा का कुछ भी पता नहीं है ऐसे मुनियों के पीछे-पीछे फिर रहे हैं ।।५५। सार्थक नाम को धारण करने वाले अष्टापद नामके जीवों से सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़ने के बाद अष्टापद नाम को प्राप्त होगा ।।५६।। जिस पर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वत के किनारे के समीप आता हुआ नक्षत्रों का समूह उन मणियों की किरणों से अपना मण्डल तिरोहित हो जाने के प्रकटता को प्राप्त नहीं हो रहा है ।।५७।।

शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धत्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ।।६४।।

किंचिच्चान्तरमुल्लंघय प्रस्त्रेनान्तरान्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांवरः ।।६६।।

हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलाश शुद्धात्मा की तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ।।६४।। विद्वानों में श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्त पूर्वक कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेव का समवसरण जान पड़ा ।।६६।।

सन् १८०६ में भूटान निवासी लामचीदास गोलालारे नामक व्यक्ति ने चीन, वर्मा, कामरूप एवं अष्टापद कैलाश की तीर्थयात्रा की थी, जिनमें उन्हें १८ वर्ष लगे । उन्होंने अपनी यात्रा का वर्णन मेरी कैलाश नामक पुस्तिका में किया है ।

नोट - ब्र० लामचीदासजी ने विक्रम संवत् १८२८ में दंडकदेश और इकवन में उत्तर ओर जाय वस्त्र त्यागे एक मुनिराय त्रिषणनाम तिन गुरु से दीक्षा ली, लोंचकर नग्नमुद्रा धरि मुनिवत लेख खड़ा योग ध्यानकर मौनसहित प्राण त्यागे।

पत्र का नोट-श्रावक सर्वजनो संशय न करनी, श्रावक जो जाय सो अपनी सम्यक्त सो दर्शन करो, जाने में भ्रम न करना, जरूर दर्शन होंगे शास्त्र में ऐसा कहा है कि अयोध्या से उत्तर की ओर कैलाशगिरि १६०० कोस है, सो सत्य है हम मारगका फेर खाते हुए प्रथम पूर्व ओर, उत्तर ओर, फिर पश्चिम ओर, फिर दक्षिण ओर ९८९४ कोसलों गये आये कैलास तिब्बत चीन के दक्षिण दिशा में हनवर देश में पर ले किनारे पर है। ताकी तलहटी में उत्तर की ओर धीधर बन जानना... सो चिट्ठी लिखित लामचीदास संवत् १८२८ मिती फागुण सुदी ५ रविवार को पूर्ण करो इति।

लामचीदास जी के लेख में चीन, बर्मा, के जिन मन्दिरों का वर्णन किया है जो जापानी विद्वान् ओकाकुरा के उल्लेख से भी प्रमाणित होता है — "At one time in a single province of Loyang (China) there were more than three thousand monks and ten thousand Indian families to impress thier national religion and art on Chinese soil," Marcopolo ने भी लिखा है– Chinese town canton had a temple of five hundred idols with the dragon as their symbol. उन्होंने बर्मा में बाहुबली की मूर्ति का वर्णन किया है जो आज भी वहाँ बाहुबही पगोड़ा के रूप में है। जिसके विषय मे इतिहासकार फर्ग्यूसन ने लिखा है— "The Baubaugigi Pagoda in Prorn (city in Burma) consist of a solid mass in brick work of cylindrical form about 80 ft high raised on a triple base and surmounted by a finial carrying the Hti or

umbrella. It is ascribed to the 7th and 8th century"-(History of Indian & Eastern Architecture. Pg. 342 of Vol II) लामचीदास के अनुसार तिब्बत में भावरे और सोहना जाति के जैनी रहते थे। उन्होंने तेले की तपस्या कर यक्ष की सहायता से अष्टापद तीर्थ के दर्शन किये थे जिसके विवरण में उन्होंने बताया है कि ऋषभदेव के टोंक में चरण बने हुए हैं । इसकी पुष्टि स्वामी आनन्द भैरव गिरिजी ने श्री किरीट भाई को लिखे पत्र में की है जिसमें उन्होंने अपनी कैलाश यात्रा के विषय में लिखा है ।

At the end he wrote :

"A good devotee can enjoy the blessful and beautiful vision of Lord Kailas as Astapad and it's surroundings. If there is any love, peace and truth in the world that is here. Materialistic life is nothing to this holy place. I am graceful to the Lama, who took me to there and he is nothing but Lord Shiva in disguise of Lama. Touching of Lord Kailas is the greatest assets in my human life. Now I have no other desires in life, bacause my realization, sense of thrilling vibrations is my final achievements in this Kailas yatra."

अष्टापद पर चढ़ना साधारण मनुष्य के लिये बहुत ही असम्भव है। अष्टापद-कैलाश को बहुत ही पूज्य और पवित्र माना गया है। इसकी पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये इस पर चढ़ने की कोशिश सामान्य आदमियों के लिये वर्जित है। इस विषय में Herbert Tichy का यह अनुभव दे रहे हैं जिसमें उन्होंने कैलाश पर चढ़ने का असफल प्रयास किया था और उनका क्या अनुभव रहा यह बताया हैं। "Herbert Tichy during one of his travels in Tibet could not resist the temptation of climbing Kailas. All attempts by his sherpa Nima to deter him from undertaking such an attempt failed and he started climbing alone. It was a 'lovely day' according to him. Herbert Tichy in his book 'Himalaya' writes "I was still a long way from the summit when the clouds came up from the Valleys and enveloped me in icy gray pall. Soon, I was being lashed by gigantic hailstones, and unable to fine a single hositable rock behind which to shelter. I beat an ignominious retreat. Back at our camp Nima gave me a broad grin and postively enjoyed telling me that down at the camp there had not been a spot of rain the whole day indeed the earth was bone dry. Yet the mountain was still swathed in a great black cloud that was like a warning to stop frivolously desecrating the realms of God. That sacred mountain are no joke was something I learned" (Eternal Himalaya)

अध्यात्म योग और तपस्या का महत्व बहुत होता है और इसके द्वारा अष्टापद के दर्शन करके अनेकों पुण्य आत्माओं ने अपने को धन्य किया है जिसमें सहजानन्दजी का नाम उल्लेखनीय है। इस सन्दर्भ में यह वृतान्त महत्वपूर्ण है... ''बंगलोर की सविता बेन छोटू भाई ने हम्पी जाकर कई दिन साधना की तब गुरुदेव सहजानन्दजी ने उनसे जो कहा वह सद्गुरु संस्मरण पत्रांक ८८ में लिखा है— मैंने पूज्य गुरुदेव से कहा कि सुगन्ध के साथ किसी के होने का अनुभव किया। तब गुरुदेव ने कहा कि वह तो ऐसे ही हुआ करता है। तुमको कोई साक्षात् दिखायी दे और पूछे कि तुम्हें क्या चाहिये तो कहना कि तुम्हें महाविदेह क्षेत्र के सीमन्धर स्वामी के दर्शन चाहियें, इतना मांगना। ऐसा गुरुदेव ने कहा था.... वैसे तो मैं शास्त्राभ्यास करती हूँ जिसमें मुझे अष्टापद के विषय में समाधान नहीं हुआ था। गुरुदेव से मैंने प्रश्न पूछा तब गुरुदेव ने उनको जो अष्टापद प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे उस अनुभव की बात कि अष्टापद पर तीन चौबीसियाँ हैं बहत्तर जिनालय हैं। भूत, भावि और वर्तमान रत्न प्रतिमाएँ हैं जिन्हें भरत राजा ने बनवाया है। यहाँ अपने पास जो परम कृपालु देव की पद्मासन प्रतिमा है उससे थोड़ी बड़ी है।''